सहजानंद शास्त्रमाला

आत्मानुशासन

चतुर्थ भाग

(श्लोक 82-120)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी रहिंज, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **रोहित पाटनी**, **इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

Contents

प्रकाशकीय 2

श्लोक (८२) 5

श्लोक (८३) 9

श्लोक (८४) 13

श्लोक (८५) 17

श्लोक (८६) 20

श्लोक (८७) 22

श्लोक (८८) 25

श्लोक (८९) 28

श्लोक (९०) 30

श्लोक (९१) 34

श्लोक (९२) 38

श्लोक (९३) 42

श्लोक (९४) 46

श्लोक (९५) 51

श्लोक (९६) 56

श्लोक (९७) 60

श्लोक (९८) 62

श्लोक (९९) 64

श्लोक (१००) 69

श्लोक (१०१) 73

श्लोक (१०२) 75

श्लोक (१०३) 77

श्लोक (१०४) 82
श्लोक (१०५) 84
श्लोक (१०६) 86
श्लोक (१०७) 90
श्लोक (१०८) 93
श्लोक (१०९) 94
श्लोक (११०) 97
श्लोक (१११) 99
श्लोक (११२) 103
श्लोक (११३) 107
श्लोक (११४) 111
श्लोक (११५) 112
श्लोक (११६) 116
श्लोक (११७) 119
श्लोक (११८) 120
श्लोक (११९) 122
श्लोक (१२०) 125

आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग

श्लोक (८२)

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं विधाय ह्रवि वीरम ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ।।
प्रसुप्तो मरणाशंकां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत काये कियच्चिरम् ।। ८२ ।।

चिरकाल किसी एक शरीर में ठहरने का अवकाश—यह मनुष्य जब सो जाता है तो मरण की आशंका को उत्पन्न करता है और जब जग जाता है तो जीवन के उत्सव को किया करता है । अर्थात् प्रतिदिन यही हाल हो रहा है कि सो गए तो मरण की तरह बेसुध हो गए और जब जमे तब कुछ जीने जैसा हाल हुआ । ऐसे तो रोज मरना और रोज जीना सा बन रहा है । ऐसे इस शरीर में कितने क्षण यह जीव ठहरेगा?

निर्मूल व्यामोह—इस जीव को व्यर्थ का एक ऐसा मोह लग गया है जिसके कारण यह अपनी इस ज्ञाननिधि की सुध न रखकर भिन्न असार बाह्य पदार्थों में अपनी दृष्टि बनाये रहता है । अमुक पर से मुझे सुख मिलेगा ऐसी कुश्रद्धा कर लेने के कारण इसकी दृष्टि पर की ओर ही रहा करती है, और जब तक किसी भी परपदार्थ की आशा का परिणाम रहेगा तब तक यह शान्त रह ही नहीं सकता । आशा किया, आशा करके, चेष्टा कर करके थक गया तो कुछ निद्रा ली, और कहो निद्रा में भी आशा की कल्पना जगी रह सकती है । स्वप्न आयेंगे तो उस ही तरह के स्वप्न आयेंगे । एक मनुष्य सो गया । सोते हुए में स्वप्न देखा कि मुझे राजा साहब ने ५० गायें इनाम में दी है । अब कुछ ग्राहक लोग गाय खरीदने को आये हैं । कहा, इन गायों में से जो गायें चाहो छांट लो और खरीद लो । १० गायें छांट लीं ।....कितने में दोगे ?....सौ-सौ रु० में देंगे । ग्राहक बोले, चालीस-चालीस रुपये में दोगे, ५० में दोगे ? स्वप्न वाला बोला, खैर अस्सी-अस्सी में लगावो ।....अच्छा साठ-साठ में दे दो ।....नहीं भाई—अस्सी-अस्सी की देंगे । ....अच्छा सत्तर-सत्तर रुपये में दोगे ।....नहीं भाई । दोनों में जिद्द की बात हो गयी । ग्राहक सत्तर-सत्तर में लेने को तैयार था और वह पुरुष अस्सी-अस्सी में देने को तैयार था । यह सब स्वप्न की बातें कही जा रही हैं, कुछ ध्यान है ना ? तो उस जिद्द की होड़बाजी में उस पुरुष की आखें खुल गई । देखा कि यहाँ तो एक भी गाय नहीं है । सो उसने आखें बन्द कर लीं और कहता है अच्छा भाई ले लो सत्तर-सत्तर रुपये में । चलो सत्तर-सत्तर रुपये ही दे जावो । ऐसा ही हाल यहाँ है ।

विकास का आवरण—मोह की निद्रा में कितनी कल्पनाएँ जगती है । ओह, है तो यह अपने स्वरूप में एकत्व रूप, जैसा है तैसा शुद्ध है, एक ज्ञान पुंज है । जिसमें सत्त्व की ओर से किसी प्रकार की विडम्बना विपदा नहीं है, समस्त जगत से न्यारा है, अनन्त आनन्द का स्वरूप है । सारी बात इसकी सही है, पर इस

सही बात को न मानने के कारण यह गलती में इतना बढ़ गया है कि कल्याण की इच्छा भी कदाचित् हो जाये, फिर भी ये सारी आकुलताएँ गल्तियां और जो अन्तरङ्ग में मोह का आशय पड़ा हुआ है वे सब आत्मा को ओर नहीं आने देते ।

गोल गोल भटकना—अहो इस मोही जीव की रात दिन की कैसी चर्या है? घूम घामकर वहीं जैसे कोल्हू का बैल उसी स्थान पर आ जाता है । जहा से गया वहीं आया । ऐसी ही अज्ञान की पट्टी आंखों में बंधी है, इसे शुद्ध मार्ग नजर में नहीं आ रहा है, गोल-गोल अपने को घूमा रहा है । कितना गोल है? मोटा गोल तो चारों गतियां हैं । इस गति से गया, उस गति में आया, उससे गया उसमें आया । यह गोल गोल चक्कर चल रहा है । फिर उसके बाद तिर्यञ्च का गोल है, और ऐसे इस असमानजातीय द्रव्यपर्याय के गोल में चक्कर लगा रहा है, फिर एक-एक पर्याय का भी बड़ा गोल है । जैसे आज मनुष्यपर्याय मिला तो मनुष्य का जीवन जितने समय का है उसमें भी यह गोल-गोल घूम रहा है, और तो जीने दो, चौबीस घंटे का भी बड़ा गोल है । इसी समय आप कल शास्त्र सुनने आये थे, इसी समय पर आप कल शास्त्र सुनने आयेंगे । आज जो दाल, रोटी, चावल खाया था, वही कल भी खाया था, बही कल भी खायेंगे, उसी समय पर दुकान जायेंगे, उन ही कामों को उस ही समय पर आज भी करेंगे, जो कल किये थे । तो जब तक जिन्दा है तब तक वही-वही चक्कर लगाता रहता है, कोल्हू के बैल की नाई यह गोलगोल चक्कर लगा रहा है, पर जैसे पट्टी बंधे हुए बैल को कुछ भी भान नहीं हो पाता कि मैं गोल-गोल चक्कर लगा रहूं, वह तो यही श्रम किए हुए है कि मैं सीधा ही सीधा चल रहा हूँ, ऐसे ही इस अज्ञानी जीव को यह भान नहीं हो पाता है कि मैं गोल-गोल चक्कर काट रहा हूँ । वह तो जानता है कि मैं रोज-रोज नया-नया, उन्नति का बढ़वारी का, सुख का काम कर रहा हूँ ।

विभावभ्रमण—भावों का गोल देखिए । पंचेन्द्रिय के विषय और छठा मन का विषय इन ६ का नोल लग रहा है । इस संसारी प्राणी ने इन ६ विषयों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अनुभव किया है क्या? अब पेट भर गया तो थोड़ीसी सुगंधित चीज भी चाहिए । इत्र कान में लगाया, कोट के कालर में लगाया । यह शौक पूरा किया तो अब धन कमाने की लौ लगी है । चलो मन का विषय लगने लगा । अब सुन्दर रूप निहारने लगा, अब संगीत का विषय चाहिए । कितना गोरखधंधा कितना गोल चक्कर है, जिसमें लाभ तो कुछ नहीं मिलने का है और अपने आपको बरबाद किए जा रहा है ।

विकास के पीछे—जैसे देखते हैं कि कोई किसान जो मामूली पढ़ा लिखा भी नहीं है, वह अपनी खेती करके सूखा रूखा खाकर संतुष्ट बना रहता है, पर थोड़ा पढ़ लिख गया तो अब उसके संतोष नहीं रह पाता । अब असंतोष और तृष्णा बढ़ने लगती है । कुछ थोड़ीसी नगर में जानकारी हुई, प्रतिष्ठा हुई, कीर्ति मिली तो अब असंतोष और बढ़ने लगा । और यह यश भी बढ़ गया तो बिल्कुल व्यर्थ का है । आज जीवन है, थोड़े समय बाद मरण हो गया तो अब क्या रहा इसके पास? किसी ने कुछ प्रशंसा कर दिया तो उससे लाभ इसका क्या हो गया? कुछ भी तो यहाँ रहना नहीं है, और फिर कितनी संकुचित दृष्टि हो जाती है ?

विश्व में यशोविस्तार की असंभवता—अरे तुझे यश चाहिए तो कहां चाहिए? सारी दुनिया में । यदि सारी

दुनिया में तेरा यश फैल जाये तब तो अच्छा है, इस दुनिया के एक असंख्यातवें हिस्से में, जो समुद्र में एक बूंद बराबर भी जगह नहीं है, इतनी जरासी जगह में यश फैल गया तो क्या हो गया? उससे बचे हुए सारे असंख्यात लोक तो तेरे यश से रहित है, इतने में क्यों झूठा संतोष मानता है? किसी का फैल भी सकता है क्या समस्त लोक में यश । कल्पना कर लो, झूठ भी जबरदस्ती मान लो कि फैल गया सारे लोक में यश तो भी उसकी दृष्टि में तू दु:खी रहेगा, शान्त न रहेगा ।

सर्व जीवों में यशोविस्तार की असंभवता—तू किन में यश फैलाना चाहता है? जीवों में । तो फैला लो सब जीवों में तो कुछ अच्छा भी है । पर जितने जीव हैं उसके असंख्यातवें भाग की संख्या में भी तेरा यश फैल नहीं पाता । अनन्तानन्ते भाग प्रमाण जीवों में कदाचित् कुछ बात चलती है । जिसमें कुछ लोग अपनी कल्पना के अनुसार प्रशंसा के शब्द गाने वाले हो जाते हैं । प्रथम तो सब मनुष्यों में ही यश नहीं फैल सकता । आज जितने मनुष्यों का भूगोल में परिचय किया है उन सबमें नहीं फैल सकता । मनुष्य ही इससे कई गुणा अधिक अभी पड़े हुए है । और सब मनुष्यों में यश भी नहीं फैलता ओर जितने में यश फैलाया है वह भी शुद्ध हो भला हो सो भी बात नहीं है । यश के साथ अपयश भी लगा हुआ है । कोई पुरुष ऐसा नहीं है जिसकी मात्र कीर्ति ही फैले । उसके साथ में अपयश भी लगा रहता है । हो कोई ऐसा तो बताओ जिसकी विशुद्ध कीर्ति हो । अच्छा वह एक भी गांव में भला हो ऐसा कोई बतावो । उसके साथ कुछ न कुछ अपयश भी लगा रहता है । सब मनुष्यों में मेरा यश फैल गया, यह भी झूठी कल्पना है । यहाँ सब मनुष्य ही जीव है क्या? अभी तो घोड़ा गधा आदि सारे जीव पड़े हुए हैं, वे भी तो तेरी कला को अभी नहीं जानते हैं । कैसे तेरी वे प्रशंसा कर दें? वे तो तेरी प्रशंसा करते ही नहीं है । उनसे भी तू अपनी प्रशंसा करवा ?

अहित का अहितरूप से निर्णय का प्रसाद—यह मन का विषय झूठा और अहितकारी है । यह मनुष्य यों हेरफेरकर उन्हीं विषयों में लगा रहता है और मानता यह है कि मैं....मैं उन्नति का कितना सीधा काम कर रहा हूँ ? पहिले तो यह ही निर्णय कर लो, हम जिस परिस्थिति में रुचि रखते हैं, जिस भाव में बसा करते हैं वह भाव वह परिस्थिति सब विपदा है । इतना भी निर्णय नहीं कर सके तो आगे बढ़ने का कोई साधन नहीं रहेगा । पहिले आन तो लो सही बात । यह बात जब विदित होगी तब वस्तु के यथार्थस्वरूप का भान रहेगा ।

पदार्थों की विविक्तता—प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप में मग्न है, अपने ही स्वरूपास्तित्व में स्वतंत्र है । प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थों से अत्यन्त भिन्न है । चाहे कोई जीव हो या अन्य अणु आदि अजीव हो, एक का स्वरूप किसी दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकता । हालांकि लोक में प्रत्येक प्रदेश पर छहों-छहों द्रव्य बस रहे हैं । धर्मद्रव्य सारे लोक में व्याप्त है । यों अधर्मद्रव्य भी और कालाणु कालद्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है । आकाश तो असीम है और जीव भी प्रत्येक प्रदेश में है । जिसे हम पोल समझ रहे हैं कि यह भी कुछ नहीं है वहाँ भी अनन्त जीव बस रहे हैं और जहाँ ये सारे संसारी जीव है उनके साथ ही अनन्त परमाणु लगे हैं । फिर और भी परमाणु है । यद्यपि लोक के प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्य विराज रहे हैं तथापि जैसे

एक घर में रहने वाले चार आदमियों में सबमें परस्पर में अनबन हो जाये तो एक घर में रहते हुए भी एक दूसरे से मिलते नहीं है । यह मोटी बात कही जा रही है । यों तो उस प्रदेश पर रहते हुए भी वे समस्त द्रव्य अनमिले हैं । हमारा द्रव्य हम में ही है, हमारी प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, गुण की परिणतियां हम में ही है; दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की परिणतियां उनकी उनमें ही है ।

पर से हित पाने की असंभवता—समस्त जीवों का, समस्त पदार्थों का उन उनका अपना-अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उन-उन ही में अपने खुद में है । अब बतलावो कहां गुंजाइश है कि मैं किसी पदार्थ का कुछ करूँ, भोगूं, उसका स्वामी बनूँ, उस पर अपना अधिकार चलाऊँ—ऐसी रंच भी तो कुछ बात नहीं है । केवल कल्पनाएँ ही हो रही है । कोई परपदार्थ मेरे भोगने में नहीं आता । मैं ही भ्रमवश, अज्ञानवश कल्पनाएं उठाया करता हूँ और उन कल्पनावों से सुख दुःख भोगा करता हूँ । बाह्यपदार्थों से सुख दुःख मुझ में आ ही नहीं सकते । प्रथम तो इन समस्त अचेतन पदार्थों में स्वयं में भी सुख दुःख नहीं है । इन घड़ी चौकी, गद्दा, तकिया आदि में कहां सुख दुःख हैं प्रत्येक पदार्थ का सुखगुण उनका उनमें ही लीन है ? उनसे बाहर आ ही नहीं सकता । कदाचित् आ जाये तो उसका अस्तित्व मिट गया और यों ही मुझसे मेरा कुछ कहीं चला जाये, मेरा अस्तित्व मिटा, यों सारे विश्व का स्वरूप मिट जायेगा ।

स्वरूपदर्शन की कला का प्रसाद—स्वरूपदर्शन की सहज कला जिसे विदित हो जाये और अपने अस्तित्व के दृढ़ किले में अपने उपयोग राजा का निवास कर दें फिर कोई कष्ट ही नहीं है, चिन्ता ही नहीं है । इस आत्ममर्म का अपरिचयी पुरुष जीवित भी रहे तो क्या जीवन है, और जिसके आत्मबोध है उसका अपना आध्यात्मिक लौकिक जीवन आनन्दमय चला करता है । देखिये आध्यात्मिकता जिनके प्रकट हो, उनका व्यवहारधर्म उनके लिए प्रगति में सहायक होता है और जब तक आध्यात्मिकता नहीं प्रकट हुई तब तक व्यवहारधर्म भी ठीक-ठीक नहीं चलता । जहाँ इस शुद्ध आत्मतत्व में मग्न हो जाये वहाँ फिर यह व्यवहारधर्म भी रहता नहीं है, वह तो शुद्ध आनन्द में मग्न हो रहा है ।

निर्मोही ज्ञानी का विकास—एक कवि ने इस तथ्य को यों अलंकृत किया है कि एक ऐसा अध्यात्म पुरुष था कि उसे संध्या की भी खबर नहीं रही । संध्या करने के समय भी वह लेटा ही रहता था । एक पुरुष ने प्रश्न किया—साधु महाराज ! आप समय पर संध्या भी नहीं करते । तो उसकी ओर से कवि ने उत्तर दिया—मृता मोहमयी माता ज्ञानपुत्रो ह्यजीजनत् । सूतवद्वयसंपाते कथं सन्ध्यामुपाश्महे ।। भाई क्या करें, हमारे डबल सूतक लगे हैं । साधु कह रहा है, गृहस्थों के पुत्र पैदा होने का सूतक लग जाये तो उसे पूजन करना नहीं बताया, अभिषेक करना नहीं बताया । १० दिन गुजर जाये तब करे, और कोई मर जाये तो १२ दिन तक न करे, ऐसी रूढ़ि है ना? सूतक लगे हों तो ये पूजन आदि के कार्य न करें । साधु कहता है कि हमारे डबल सूतक लगे है । क्या समझे? साधु महाराज के कोई मर गया है क्या? या साधु के कोई लड़का हो गया क्या? साधु कहता है—सुनो, हमारी मोहममता रूपी माता तो मर गयी है, एक तो उसका सूतक लग रहा है और ज्ञानरूपी पुत्र पैदा हो गया है, एक उसका सूतक लग रहा है । अब ऐसे डबल सूतक में हम

कैसे संध्या करें? भाव उसका क्या है कि जहाँ मोह रंच भी नहीं रहता, जहाँ रागद्वेष मोह ममता बिल्कुल नहीं रहते और केवल ज्ञानप्रकाश ही प्रकाश रहे, वहाँ विकल्प कैसे चल सकता है?

अपूर्व परमार्थलाभ का कर्तव्य—यह स्थिति कैसे हो जैसे कुछ न कुछ चित्त में हठ बनाये हैं ना, कि मुझे तो लखपति बनना है, यह हठ बनाये हैं कि मुझे तो ऐसी स्थिति पाना है । कुछ भान होगा । ऐसे ही जिसके निर्विकल्प भाव के पाने का प्रयत्न हो, भाव हो, वह इस स्थिति को पा लेगा । जीवन का पूर्णलाभ तो उसने ही पाया है । बाकी यहाँ तो यही ढला चला चल रहा है । जब यह जीव, मनुष्य सो जाता है तो मृतकवत् हो जाता है और जब जग जाता है तब मानो जीवनसा पाता है । ऐसा ही रोज-रोज लग रहा है । ऐसे इस शरीर में कितने काल तक ठहरना है? जो नित्य छिपे उसके रहने का भरोसा नहीं है । यह शीघ्र ही शरीर छोड़ेगा, ऐसा निश्चय करके कोई परमार्थ कार्य करलो । इस विनश्वर समागम का ऐसा सदुपयोग करो कि अविनश्वर अपूर्व परमात्मतत्व का लाभ मिल जाये ।

श्लोक (८३)

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम् ।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ।। ८३ ।।

बन्धुजनों से हित की अनाशा—हे बन्धु ! तू सच तो बता कि इस जगत् में तू जो बान्धवजनों से इतना नेह लगाता है, इसके फल में आखिर ये बन्धुजन तुम्हें लाभ क्या पहुंचायेंगे विचार करने पर यह निर्णय होगा कि कुटुम्ब से तो मेरा हित होता हुआ न मालूम पड़ेगा । केवल इतना उपकार जरूर कुटुम्बीजनों का होगा कि मरे पीछे इकट्ठे होकर मेरा बैरी जो यह शरीर है इसको शीघ्र जला कर भस्म कर देंगे । कवि अलंकार में यह बता रहा है । इसका मतलब क्या है कि बन्धुजनों से तुझे कुछ भी प्राप्त न होगा । बात तो सीधी यह कही गई है कि इन बन्धुजनों से तुझे कुछ भी प्राप्त न होगा । अन्त में ये केवल इतना ही करेंगे कि इस शरीर को जलाकर ये भस्म कर देंगे । यह भी उपकार के लिए नहीं है, किन्तु कल्पना करो कि यदि किसी के मरे शरीर को भस्म न किया जाये, यों ही पड़ा रहने दिया जाये तो प्रजा में जनता में कितना कष्ट बर्तेगा लोग दुर्गन्ध के मारे परेशान भी होंगे बीमार भी होंगे, इस कारण शरीर को भस्म करने की जो प्रथा है यह भी कुछ बढ़ के उपकार के लिए नहीं है, किन्तु अपनी व्यवस्था और सुविधा के लिए है ।

अन्तिम बेअदबी—किसी कवि ने लिखा है कि जो लोग अपने मित्रजनों का, बन्धुजनों का अधिक विनय सत्कार करते हैं, अन्त में तो वे भी विलक्षण अविनय ही करेंगे । इस बात को एक कवि ने अपनी भाषा में यो कहा है—

''यार मरते वक्त होगा एक बेअदबी का कार ।

यार तो पैदल चलेंगे, हम जनाजे पर सवार ।।''

हे मित्र ! जीवन भर मैंने तुम्हारी कभी बेअदबी नहीं की, पर मरते वक्त याने जब मैं मरूँगा, उस वक्त मैं तुम्हारी बेअदबी जरूर करूंगा । कैसी बेअदबी ? कि तुम लोग तो पैदल चलोगे और हम तुम्हारे सिर पर चढ़कर जायेंगे । इसका भाव यह है कि कितनी भी किसी से घनिष्ट मित्रता हो, पर अन्त में बिछोह होगा । जो समागम में अनुरक्त रहता है, वह बिछोह के समय में बहुत दु:खी होगा ।

विपरीत श्रद्धा की हेयता—भैया ! जिन बन्धुजनों के पीछे कुटुम्बीजनों के लिए तू इतना परेशान हो रहा है, ये बन्धुजन तेरा क्या काम कर देंगे, क्या लाभ मिलेगा, क्या शान्ति मिलेगी? अरे वे तो इतना ही करेंगे कि इस शरीर को जला देंगे । इतने के अतिरिक्त और कुछ भी तुम्हारा लाभ करने में ये बन्धुजन समर्थ नहीं है । जरा स्वरूपदृष्टि करके तो सोचो—जगत् में जितने भी जीव हैं वे सब जीव मेरे ही समान स्वरूप वाले हैं । स्वरूपदृष्टि से मुझ में और अन्य समस्त जीवों में कोई अन्तर नहीं है, पर सत्त्व की दृष्टि से, अनुभवन और व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक जीव प्रत्येक जीव से अत्यन्त भिन्न है । अब उन सब जीवों में से परिवार के दो चार जीवों को अपना मान लेगा और अन्य समस्त जीवों को पराया मान लेना, यह तो मन की स्वच्छन्दता की बात है, वस्तुत: तो भिन्न हैं तो सब है, समान है तो सब है । तू किसी भी जीव में आसक्त मत हो, यह मेरा है, ऐसी बुद्धि को छोड़ दो । परिस्थिति में जो करना पड़ता है ठीक है, पर श्रद्धा विपरीत हो गई है तो उस विपरीत श्रद्धा का फल कोई दूसरा भोगने न आयेगा । जो विपरीत यत्न करेगा वही रोयेगा, कोई दूसरा नहीं ।

समागम का वियोग—है क्या जीवन में? जिन्दा हुए, बड़े बने, कुछ कला सीखी, कुछ धन कमाया, अन्त में बूढ़े हुए, शिथिल हुए, मर गए, चले गए, सबकी यही पद्धति है । एक का मर गया भाई, तो लोग आये समझाने । तो कोई यह भी पूछता है कि तुम्हारे भाई साहब क्या कर गये दान पुण्य वगैरह? तो भाई उत्तर देता है—क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गए । बी ए किया, नौकर हुए, पेन्शन हुई और मर गए । एक सर्विस वालों की ही क्या बात, सभी की यही कहानी है । कुछ विद्या सीखी, व्यापार की कला सीखी, कुछ धन कमाया, सेठ जी बने, अन्त में सब कुछ पुत्रों को बांटा, सौंपा और मर गए, क्या साथ ले गए? सो यहाँ के समागमों की ओर से कुछ उत्तर नहीं है इसका । हां किसी ने अपने जीवन में परिणाम निर्मल रक्खा हो, उससे जो धर्म और पुण्य किया वह साथ ले जायेगा, पर यहाँ के समागम जोड़कर कोई चाहे कि हम कुछ साथ ले जायें, सो नहीं हो सकता । जिस कमीज को पहिने हुए मरे हैं वह कमीज भी न जायेगी और कुछ धन पैसा-धेला छदाम भी साथ न जायेगा । कैसा साफ निकल जाता है यह ? निकल जानें के बाद फिर यहाँ के समागमों का क्या रहा इसके पास ?

विघटन—भैया ! किसके लिए इतना धन का संचय कर रहे हो ? ये बन्धुजन जिनके लिए निरन्तर पीड़ित होकर और अपने को भी कष्ट में डालकर इतना अथक परिश्रम कर रहे हो, ये बन्धुजन केवल इतने ही काम आयेंगे कि मर जाने पर इस शरीर को जल्दी जला देंगे । इससे आगे और कुछ काम न होगा ।

जगत् में ये जीव जन्मते हैं मरते हैं, पर मरण उन्हीं का सफल है, जीवन उनका ही सफल है—जो ऐसे उपाय बनाते जायें कि जिन उपायों से यह जीव संसार के आवागमन से सदा के लिए मुक्त हो जाये, अन्यथा यह जन्तु का ही जन्तु रहेगा । एक मित्र अपने बीमार मित्र को देखने शाम को गया । वह बहुत कठिन बीमार था । बिस्तर से भी नहीं उठा पाता था, करवट भी नहीं बदल सकता था । मित्र पूछता है, कहो मित्र कैसी दशा है ? क्या स्थिति है? तो बीमार मित्र ने कहा कि क्या बताएँ, बिस्तर से भी नहीं उठा जाता, अत्यन्त कमजोर हालत है । कुछ बातें करके आगन्तुक मित्र अपने धर चला गया । रात व्यतीत होने के बाद सुबह दोपहर के बीच में वह गुजर गया । अब पुन: वह मित्र शाम को आया तो मित्र पूछता है मित्र के भाई से, कहो जी क्या हालत है? तो वह कहता है कि वह तो दुनिया से भी चल दिया याने मर गया । तो वह झुंझलाकर बोला कि 'कल तक तो यों कहते थे कि बिस्तर से उठा जाता नहीं, आज दुनिया से भी चल देने की ताकत कहां से आ गयी ?'

जीवन और मरण की दशायें—जीवन और मरण ये दोनों रहट की घड़ियों की तरह चलते हैं । जैसे रहट की घड़ी भरी और थोड़ी देर में रीति हो गई, फिर भरी फिर रीति हो गई । जैसे कोई वृक्ष से फल टूटा तो टूटते ही जमीन पर ही तो वह आयेगा, टूटकर तो टूटने के बाद जमीन पर गिरने के बीच में वह फल कितनी देर रहेगा? आधा या एक दो सेकेण्ड भी न रहेगा । यों ही समझिये कि जन्म हुआ तब यह टूटा और मरण की जमीन पर आ गया । इस बीच में हम आपका कितना समय है? अभी लग रहा है कि समय खूब है । अरे जितना समय व्यतीत हो गया, हम आपके ४०, ५० वर्ष व्यतीत हुए ऐसा लग रहा है कि यह समय कहां से बीत गया इतनी जल्दी, किन्तु आज का १ दिन बहुत बड़ा लग रहा है । अभी तो ६ घन्टे और है, आठ घन्टे और पड़े हैं, हो जायेगा काम । आज का दिन बड़ा लम्बा लग रहा है और बीते हुए ४०,५० वर्ष का समय ऐसे बीत गया कि पता नहीं चलता कि ये वर्ष कहां से गुजर गये? अरे जैसे ये चालीस पचास वर्ष, चालीस पचास मिनट जैसे गुजर गये, यों ही अब रही सही थोड़ीसी आयु यह तो शीघ्र ही गुजर जायेगी । इस दुर्लभ जीवन को पाकर कोई अनुपम कार्य कर लें ।

सम्यक्भाव की आदेयता—देखो भैया ! अपूर्व बात प्राप्त करने में कोई कठिनाई भी नहीं है । बस थोड़ी ज्ञान विवेक दृष्टि भर चाहिए । काम जो कर रहे हो, सो होने दो । व्यापार आदि अन्य-अन्य काम, पर सही को जानने में भी क्या कुछ कठिनाई आती है ? मैं आत्मा चेतन हूँ, अनादि काल से यह उपाधि सहित है, शरीर और कर्म इसके संबन्ध में बने हुए हैं । इतने पर भी आत्मा अपने स्वरूप से आत्मा मात्र है । ये जड़ कर्म परमाणु अपने स्वरूप से जड़ है, यह शरीर परमाणु यह भी जड़ है, मैं सबके बीच सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वभावमात्र हूँ । धन्य है वे सद्गृहस्थ जो सारे काम भी करते जा रहें हैं और अपने को न्यारा ज्ञानस्वरूप निरखते जा रहे हैं । वे तो सम्यग्दृष्टि हैं, पूज्य हैं ।

कृतज्ञता—एक कथानक आता है कि एक सेठ ने मरते हुए बैल को णमोकारमंत्र दिया और कुछ समाधान कराया । वह बैल मरकर स्वर्ग में देव हुआ । देव होकर उसने अवधिज्ञान से विचार किया कि मुझे अमुक

सेठ की कृपा से यह सद्गति मिली है, देव नीचे आता है, सेठ को वन्दना करने के लिए । सेठ एक मन्दिर में था, वहीं पास में एक मुनि महाराज बैठे हुए थे । देव आया, उसने सबसे पहिले सेठ को वन्दन किया और पीछे मुनि को वन्दन किया, लोग बड़े आश्चर्य में पड़े । तो मुनि महाराज स्वयं अवधिज्ञानी थे । उन्होंने कहा कि भाई ! इस जीव का साक्षात् उपकार इस सेठ के निमित्त से ही हुआ है, इस कारण कृतज्ञ होकर इस सम्यग्दृष्टि परोपकारी श्रावक का वंदन किया है ।

यथार्थज्ञान का आन्तरिक सुफल—भैया ! सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाए, इसके समान और कोई वैभव नहीं है । अरे घरगृहस्थी के कमाने के सारे धंधे करते रहो, पर जो यथार्थ बात है, इसको समझते रहने में क्या कठिनाई हो रही है? यदि कुछ समय आत्मदृष्टि में व्यतीत न हुआ तो वह जीवन क्या जीवन है? एक बार किसी भी क्षण यदि एक आत्मा की झलक हो जाए तो उससे हमें केवल शान्ति के लिए ही उपयोग मिलता हो, इतना ही नहीं, किंतु जब तक इस लोक में रहना शेष रह गया है, तब तक उसकी बुद्धि लौकिक कामों में व्यापार आदिक में भी प्रखर रूप से चलने लगती है । उसका सबसे मुख्य काम केवल आत्मसाधना ही है । सभी रागी मनुष्य ज्ञान वैराग्य की धुन को बनावें ।

ज्ञानियों के आत्मसाधना की मुख्यता—साधुओं को तो आरम्भ और परिग्रह की किल्लत नहीं है, अत: वह ज्ञानसाधना की तो निरन्तर धुन बना सकता है, परन्तु गृहस्थ को तो आजीविका का कार्य भी अत्यन्त आवश्यक है गृहस्थ के रहते हुए । ठीक है उसे भी करें । केवल दो ही प्रोग्राम रक्खें अपने और कुटुम्ब के शरीर के पालन पोषण के लिए—धन का अर्जन करना और धन कमाना, पर यहाँ केवल दो ही काम कौन करता है? बीच में पचासों काम मान लेते हैं, अनेक राग, द्वेष और मोह की बातें करते हैं और इतना ही नहीं, व्यर्थ की गप्पों सप्पों में अपना घण्टों का समय बरबाद कर देते हैं । अरे ! काम तो इतना ही करो आजीविका के लिए, धन कमाओ और धर्म करो । धन से जिस-जिससे सम्बन्ध है, उस-उससे सद्व्यवहार करलो, परन्तु ऐसे कामों में तो न पढ़ो, जो व्यर्थ के काम है, जिनका न आजीविका से संबंध है और न धर्म से सम्बन्ध है, जिनमें तुम घुलमिलकर अपना मन बहला रहे हो, वे परिजन, इष्टजन, बन्धुजन तुम्हारे आत्मा के काम न आयेंगे । इस पर गंभीर दृष्टि से निर्णय तो करो ।

पाप का भागी अन्य नहीं—वाल्मीकि ऋषि की कथा में बताया है कि वे पहिले समय में लुटेरे थे । एक बार कोई साधु उस रास्ते से निकला । बाल्मीकी ने पूछा कि क्या है तेरे पास ? साधु बोला कि हमारे पास यह सोंटा और कमण्डल व कम्बल है । बाल्मीकी ने कहा कि जो कुछ हो रख दो । साधु ने कहा कि हे बाल्मीकी ! हमारा एक प्रश्न है, तुम पर के सब लोगों से उत्तर ले आवो । यह सब कुछ लेते जाओ या यहीं रख जावो, हम यहीं बैठे मिलेंगे । बाल्मीकी ने पूछा कि क्या पूछ आयें महाराज ! साधु ने कहा कि तुम सबसे यह पूछ आवो कि तुम्हारे लिए मैं सभी मुसाफिरों को मार पीटकर धन को कमाता हूँ, अन्याय करता हूँ तो इससे जो पाप बंधेंगे, उनको तुम बांटोगे या नहीं?

भैया ! पापों का बांट लेना तो दूर रहा, साधारणतया सज्जन लोगों को पापों को स्वीकार कर लेने में भी

डर लगता है । सो सभी ने यों कहा कि हम पाप न बाटेंगे । उन पापों का फल तो तुम अकेले ही भोगोगे । वाल्मीकि के कुछ ज्ञान जगा और साधु महाराज के पास आते-आते बहुत वैराग्य बढ़ गया । साधु से वाल्मीकि ने कहा कि महाराज ! जो कुछ भी हम पाप करते हैं, वे कोई भी बांटने को तैयार नहीं है । हमें तो आप जैसा बनना है, मुझे अब किसी भी वस्तु से कुछ प्रयोजन नहीं है । अन्त में वह एक संन्यासी हुए और कुछ साहित्यिक रचनाएं भी उन्होंने कीं ।

परिणामों की निर्मलता की आवश्यकता—सोच लीजिए कि जिस पदार्थ में जिस प्रकार से जो परिणमन होता है, उस परिणमन को दूसरे कैसे बाटेंगे हम पापपरिणाम करें और दूसरे बांट लें, यह कभी नहीं, हो ही नहीं सकता । खुद की करनी खुद को ही भरनी पड़ेगी, दूसरा कोई भरने न आएगा और जो कुछ हम पाप अथवा कर्म करते हैं, बड़ी मुश्किल से टल सके तो टल जायें, अन्यथा इनका टलना कठिन है । हमें अपने परिणामों की निर्मलता बनाने की ओर ध्यान रखना चाहिए । वर्तमान में कुछ थोड़ासा धन समागम मिल जाए तो यह बड़ी बात नहीं है, किन्तु अपना परिणाम न्याययुक्त बना रहे हैं, यह बड़ी बात है । धर्म वही कर सकता है, जो दुनिया के लिए अपने को मरा हुआ समझ ले । चेतो और अपने आत्महित के कार्य में लगो । आत्महित यही है अपने सहजस्वरूप को पहिचानों, उसका ही उपयोग करो और उस ज्ञानपुंज के उपयोग में ही लीन रहकर स्थिर रहो ।

श्लोक (८४)

जन्मसन्तानसंपादिविवाहादिविधायिनः ।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणों न परे परे ।। ८४ ।।

जीव के बैरी—इस जीव का वास्तविक बैरी वह है जो इस जीव को जन्म मरण की संतान बढ़ाने में कारण बनें । संक्लेश, विह्वलता आदि संकटों का जो कारण बनें उसको ही तो वास्तव में बैरी कहेंगे । अब लौकिकजनों द्वारा माने गये बैरियों की और ज्ञानीजनों द्वारा देखे गए बैरियों की तुलना करिए । बालक के माता पिता, बन्धुजन, इष्टजन और रिश्तेदार उस बालक की आत्मा के प्रति क्या अच्छे या बुरे कर्त्तव्य करते हैं? इसको जरा ध्यान से सुनिये ।

हितकारी माता पिता—बालक के आत्मा का हित हो, इस प्रकार का कर्तव्य माता पिता करें, तभी तो वे हितू होंगे, क्योंकि सब कुछ सुख दुःख और सभी अनुभव एक ज्ञान की दशा पर निर्भर है । जिस प्रकार का ज्ञान किया जाये, उस प्रकार के सुख दुःख आदिक अनुभव में आते हैं । यदि यह ज्ञान अपने आपके सही स्वरूप को जानने में लगे तो उस ज्ञानमात्र निजतत्त्व के अनुभव होने में सर्वकल्याण ही कल्याण होता है । कर्म झड़ते हैं, कर्म रुकते हैं, शांति और संतोष का अनुभव होता है । तब ऐसे कार्यों में अपने को लगावें तब तो माता पिता और इष्टजनों ने मेरा हित किया, यह तो अवश्य समझिये ।

अकलंक और निकलंक का हित—एक बार अकलंक और निकलंक देव के माता पिता अष्टाह्निका के

दिनों में किसी तीर्थराज के दर्शन करने गए । एक मुनि महाराज वहाँ पर बैठे हुए थे । माता पिता ने अष्टाह्निका में मुनिराज से ब्रह्मचर्य व्रत का नियम लिया और साथ में दो छोटे बालक थे । सो ऐसा प्रेम होता ही है कि नियम की बात, कुछ धर्म की बात बच्चों से कह दी जाती है । तो माता पिता ने कहा कि बेटा ! तुम्हारा भी यही नियम रहे ब्रह्मचर्य का । बालक कुछ समझदार थे । नियम ले लिया । जब अष्टाह्निका गुजर गयी, कुछ और महीने गुजर गए तो माता पिता ने उन दो बालकों की शादी की बात की । वे दोनों बालक कहते हैं कि आप लोगों ने तो हमें ब्रह्मचर्य का नियम दिलवाया है, अब तो हम ब्रह्मचारी ही रहेंगे । तो मां बाप ने बताया कि वह नियम तो केवल अष्टाह्निका भर के लिए था । अब उन दोनों बालकों ने यह बताया कि हमने तो उस समय आजीवन ब्रह्मचर्य से रहने के लिए ही समझा था । इसलिए अब तो हम आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे । माता पिता बड़े खुश हुए ।

संसारवृद्धि के कारणभूत बन्धुजन—यह जीव ज्ञानमात्र है, पर यह लौकिक संकटों का मूल जो राग मोह है, इसका विनाश हो—इस प्रकार की विधि कोई बनाये, तब तो समझिये कि परिवारजनों के बालक के प्रति मित्रता का काम किया है, पर करते क्या है लोग, प्रथम तो विद्या पढ़ाने की बात भी आए तो धनार्जन करने की विद्या पढ़ायेंगे । बाद में विवाह आदिक के कार्य कर देते हैं । ये जो सब संयोग लगाये हैं, ये संसार बढ़ाने वाले हैं या मोक्ष पहुंचाने वाले हैं । ये सब योग संसार को बढ़ाने वाले हैं । तो जो जन्म मरण रूप संसार की संतान को बढ़ाने वाले विवाह आदिक कार्यों को करें, इस प्रकार के जन तो इस जीव के बैरी है । एक बहुत गम्भीरता से और अपने आपको सदा के लिए कैसे कल्याण हो, इस दृष्टि को लेकर इस बात को सुनिये । यह बात बिल्कुल सही मालूम पड़ेगी । हालांकि परिवारजन कोई द्वेष रखकर ऐसा बैर का काम नहीं करते, वे तो अपनी बुद्धि के माफिक भलाई ही समझ कर बच्चों का सुख और हित समझकर किया करते हैं, पर उसका फल क्या होता है कि जन्म मरण रूप संसार का बढ़ाना होता है । भला ही समझा पुत्र को उन्होंने किसी वस्तु से, पर यहाँ तो इस जीव को उसका कुफल भोगना पड़ा । यह जन्म मरण कराने का कारण बनता है ।

शस्त्रघातक बैरी से बरबादी का अनियम—कोई दुश्मन हो, शस्त्र लेकर आया हो, प्राणघात कर रहा हो तो उस बेरी ने प्रथम तो एक बार ही हुए उसका प्राण हना, और दूसरे जिसका प्राण हना जा रहा है वह यदि कुछ शान्ति और समता का अभ्यासी बनता है, अपने शुद्ध परिणामों का स्वागत करता है तो कई भवों के बांधे हुए पापकर्म उसने दूर कर डाले । किन्तु हँसी खुशी से, विवाह आदिक अनेक झंझटों में लगा तो सारे परिजन इस जीव के ऐसे बैरी जैसे काम कर रहे हैं कि इसको तो अनेक बार जन्म मरण धारण करना पड़ेगा, क्योंकि इसने स्वयं बाह्यदृष्टि करके, पापपरिणाम करके कर्मों का बन्धन किया । जब बहुत समय तक संसार में रहना पड़ेगा, जन्म लेना पड़ेगा तो इसका अर्थ है कि मारने को जो शस्त्र लेकर बैरी आया है वह तो उसका एक बार ही प्राण हरने का कारण बना, शुद्धि जो मोह और राग करने वाले परिजन है ये तो अनेक बार प्राण हरने के, मरण होने के कारण बनते हैं । इसलिए कहा जा रहा है कि तुम परिजनों में मोह

मत करो, यहाँ भी अपने ज्ञानबल से यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता बने रहो ।

धर्म और धर्ममय की मंगलता—हे भव्यात्मन् ! इस जीव को केवल अपने आपका धर्म ही शरण है । दर्शन और पूजन से पहिले पढ़ते हैं—चत्तारि मंगलं । मंगल चार है । कौन से ४ मंगल हैं? अरहंत प्रभु मंगल हैं, सिद्ध प्रभु मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवलीप्रणीत धर्म मंगल है । अरहंत मंगल हैं क्योंकि वे वीतराग सर्वज्ञ है, शुद्ध ज्ञान विकास वाले हैं । भले ही चारों अघातिया कर्म लगे होने के निमित्त से उनके अभी शरीर में बन्धन है, फिर भी भावबन्धन रंच नहीं रहा । और ऐसा अपूर्व केवलज्ञान प्रकट हुआ है कि समस्त लोकालोक उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ है, ऐसे शुद्ध वीतराग सर्वज्ञ परमेष्ठी की भक्ति करने योग्य है । अपना ज्ञान निर्मल करें तब ही तो भक्ति कर सकते हैं और प्रभु की भक्ति के उपयोग के प्रसाद से उसका ज्ञान भी निर्मलता की ओर बढ़ता जाता है । जब ज्ञान निर्मल हो, रागद्वेष की छांट हो उस समय भव-भव के बांधे हुए कर्म स्वयं खिर जाते हैं और विशुद्ध आत्मीय आनन्द उत्पन्न होता है ।

मंगल का अर्थ—मंगल किसे कहते हैं ? मंगल में २ शब्द है—मंग ल में अथवा गाल । दो तरह के अर्थ होंगे, मंग का अर्थ है सुख । लोग कहते हैं चंगे मंगे । चंगे का अर्थ है स्वस्थ, मंगे का अर्थ है सुखी । जो मंग को ला देवे उसे मंगल कहते हैं । दूसरा अर्थ है, मं गल । मं नाम पाप का है । जो पाप को गला दे, नष्ट कर दे उसे मंगल कहते हैं । लोकव्यवहार में मंगलकलश भी चलता है । कोई शुभ कार्य हो तो मंगल कलश रख देते हैं । वह कलश क्या मंगल होगा? मंगल तो वह चीज है जो हमारी सुख की सहयोगी हो । और दु:ख को दूर करनहारी हो । फिर कलश में मंगल की रूढ़ि क्यों हो गयी इसका कारण यह है कि पानी से भरे हुए कलश को देखकर यह निर्णय होता है कि ज्यों कलश पूर्ण जलयुक्त है, पूर्ण घन है यों ही यह आत्मा पूर्ण ज्ञानधन है, पूर्णज्ञान युक्त है । वह कलश अपने आत्मा की सुध कराता है । इस कारण वह कलश मंगल माना गया है । पानी से भरे हुए कलश के अन्दर रंच भी जगह खाली नहीं रहती है । जैसे मटके में लड्डू भर दिये तो उसके बीच-बीच में जगह खाली रहती है, ऐसी बात जल से भरे हुए घड़े के अन्दर के नहीं होती है । उसमें तो जल लबालब परिपूर्ण भरा हुआ होता है । और वह नवीन मिट्टी का घड़ा है । जो भीतर भरा है पानी, वह पानी पूरी मिट्टी में भी समाया हुआ है । यह कलश अपने आपकी आत्मा की सुध दिलाता है । मेरे में ज्ञान इसी तरह परिपूर्ण भरा हुआ है । बीच में कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ ज्ञान न हो । जीव जितने विष्कम्भ को लिए हुए है उसमें प्रत्येक प्रदेश में ज्ञान भरा हुआ है ।

आत्मा की ज्ञानघनता—इस आत्मा को ज्ञानघन बोलते हैं । घन का अर्थ वजनदार नहीं, मोटा नहीं । घन का अर्थ है द्वितीय वस्तु का जिसमें अभाव हो । जैसे कोई शीशम की लकड़ी, सागौन की लकड़ी बड़ी ठोस है, सारभूत है तो कहते हैं कि इस लकड़ी में सार अधिक है । इसका अर्थ क्या है कि इस लकड़ी में लकड़ी के तत्त्व को छोड़कर अन्य कोई तत्त्व नहीं पड़ा हैं । अन्य कोई तत्त्व पड़ जाये तो सार नहीं रह सकता । घुन हो, कीड़ा हो, पोल हो तो उसे सार नहीं कहते । सार तो उसे कहते हैं जिसमें द्वितीय द्रव्य का अभाव हो । यह आत्मा ज्ञानघन है । ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई परतत्त्व इसमें नहीं है । यह कलश अपने ज्ञानस्वरूप

की हमें याद दिलाता है, और ज्ञानस्वरूप का स्मरण मंगल है, यों उपचार से वह कलश भी मंगल है ।

मंगलचतुष्क—चार मंगल है, अरहंत प्रभु मंगल है और यह ही अरहंत प्रभु जब चार अघातिया कर्मों का विनाश करके शरीररहित हो जाते हैं, केवलज्ञानपुंज आत्मा ही रहता है उन्हें सिद्ध कहते हैं । आत्मा का परिपूर्ण विशुद्ध अन्तर बाह्य सर्व यत्नों के सम्पर्क से रहित यह शुद्धस्वरूप है । ऐसा ही स्वरूप हम आप सबका है । पर उसका विश्वास न करने से बाह्य की दृष्टि करके जड़ विभूति के प्रति भिखारी बन जाता है । जीवन चलाने योग्य सब कुछ मिला है तब भी संतोष नहीं कर सकते । सिद्ध प्रभु मंगल हैं । ये शाश्वत निराकुल सुख में ही मग्न रहेंगे । कर्म बन्धन से कभी भी लिप्त न होंगे । मंगल ४ हैं जिन में दो तो बताये हैं अरहंत सिद्ध । ये देव कहलाते हैं । तीसरे मंगल है साधु । साधु कहने में आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों को लेना । ये साधु पुरुष संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है । अपने आपके ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में निरत रहा करते हैं । ये समस्त जीवों में समता भाव रखते हैं । कोई वन्दन कर रहा हो तो, कोई गाली दे रहा हो तो, कोई लाठी से पीट रहा हो तो, सब जीवों में उनके समता रहती है । इसीलिए उनकी इतनी पूज्यता है । ये सब धर्म के प्रसाद से मंगल है । धर्म मंगल है ।

साधु की अविचलितता—राजा श्रेणिक के समय में एक घटना घटी, जिससे श्रेणिक राजा के पतन का और उद्धार का दोनों का सम्बन्ध है । पूर्व काल में अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में श्रेणिक बौद्ध थे और उनकी पत्नी चेलना जैन थी । कभी-कभी इन दोनों में अपने-अपने धर्म के प्रति विषाद हो जाता था । एक बार श्रेणिक के धर्मविवाद में कहीं हार मानकर बदला लेने के लिए साधु के अपमान का प्रयत्न किया । श्रेणिक जंगल में जा रहे थे । एक जगह एक मुनि महाराज बैठे हुए थे । पास ही वहीं एक मरा हुआ सर्प पड़ा था । सो उस ही सर्प को उठाकर मुनि के गले में डाल दिया और चले आये । इससे उसे नरक का बन्ध हुआ । दो तीन-दिन बाद कुछ जिकर हुआ । जब जिस ओर दृष्टि नहीं है तब वहाँ कैसे मन में यह आ गया कि उनको बड़ा कष्ट होगा । दो तीन दिन के बाद चेलना से बात चली । चेलना साधुवों के गुणों को बखान रही थी । तब श्रेणिक बोले कि हमने तुम्हारे साधु के ऊपर मरा सांप डाल दिया है । तो चेलना ने कहा—अरे तुमने बड़ा अनर्थ किया । अभी तक साधु महाराज निराहार बैठे होंगे । तो श्रेणिक ने कहा—अरे वह तो पहिले ही सांप को फेंककर उठकर चले गए होंगे । इस तरह से दो तीन दिन कौन भूखा पड़ा रहेगा? तो चेलना ने कहा कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि साधु महाराज उसे फेंककर चले गए होंगे । वह तो उसी स्थान पर ध्यानावस्था में बैठे होंगे । दोनों चले मुनि महाराज को देखने । वहाँ जाकर देखा तो मुनि महाराज ध्यानस्थ बैठे हुए थे । मरा हुआ सांप गले में पड़ा हुआ था । बहुतसी चींटियां सारे शरीर में रेंग रही थीं ।

समता के दर्शन से श्रेणिक का उद्धार—इस उपसर्ग के निवारण में चेलना ने क्या किया कि नीचे शक्कर बिखेर दी । सारी चींटियां नीचे उतर गयी, तब सांप को अलग कर दिया । कुछ ही समय बाद मुनिराज की आखें खुली । वे उत्कृष्ट ज्ञानी थे । दोनों को मुनिराज ने आशीर्वाद दिया—उभयो: धर्मवृद्धिरस्तु । तुम दोनों को धर्मबुद्धि हो । अब तो राजा श्रेणिक को कुछ विवेक जगा । सोचा कि मैंने इतना बड़ा पाप किया, फिर

भी मुझे ऐसा आशीर्वाद दिया । हम दोनों के प्रति मुनिराज का यह भी भाव नहीं हुआ कि इस चेलना ने तो उपसर्ग दूर किया है, धर्मात्मा है, साधु भक्ति से ओतप्रोत है तो इसकी ओर कुछ प्रसन्नता से देख भी लें और इसे पहिले आशीर्वाद दें, सो भी नहीं । उन मुनिराज की दृष्टि में वे दोनों एक समान थे । अब तो श्रेणिक यह सोचने लगा कि मैने ऐसे उदार महान् योगिराज को ऐसा उपसर्ग किया । मुझे तो जीवित रहना ही न चाहिए । विचार करने लगा कि मैं अपनी ही तलवार से अपनी गरदन इसी समय उड़ा दूँ, ऐसे पापी को जीने का अधिकार नहीं है । मुनिराज बोले-—अरे श्रेणिक ! यह क्या विचार तुम करते हो? ये तो कर्मों के उदय है । आत्मा तो स्वभावत: पवित्र है । तुम आत्महत्या करना क्यों विचार रहे हो ? लो मन की बात को मुनिराज ने बता दिया । इतनी बात सुनकर अब श्रेणिक और धर्मानुरागी हुआ । अब साधु महाराज के प्रति श्रेणिक के इतनी भक्ति जगी कि धन, सम्पदा, विषय, कषाय के सर्वविकल्पों का परित्याग करके साधु के गुणों में अनुरक्त हो गया । वहाँ उसे सम्यक्क जगा कि उसके प्रताप से सप्तम नरक से घटकर केवल पहिले नरक की स्थिति रह गई और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया ।

साम्यधर्म की ओर—एक समताभाव के रख लेने से साधु को भी आनन्द रहता और भक्त का भी उद्धार होता है । यों अरहंत, सिद्ध, साधु को मंगल कहा । अब चतुर्थ मंगल सुनें । केवली भगवान् ने जो धर्म बताया है, जो मेरा स्वरूप बताया है उस स्वरूप की दृष्टि करना यही है धर्मपालन । यह धर्मपालन मंगल है । यों इस मंगल की ओर जो लगाये, वह तो है वास्तविक मित्र और जो इस मंगल से हटकर जन्म संतान बढ़ाने के ही करतब कराता है वह तो इस जीव का वास्तविक बैरी है । परिजन वैभव आदिक में व्यामोह मत करो, हित मानकर राग न करो, किन्तु अपने आपके स्वरूपदर्शन और प्रभुदर्शन को हित का कारण मानकर उसकी ओर बढ़ो ।

श्लोक (८५)

धनरन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने ।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्त: शान्तं संधुक्षणक्षणे ।। ८५ ।।

यत्न कर-कर जलते हुए स्वयं को और जलाना—यह भ्रान्त जीव आशारूपी अग्नि में धनरूपी ईंधन के भार को डाल-डालकर जल तो रहा है और अपने को शान्त समझ रहा है । जो बात संसारी प्राणियों पर बीत रही है, उसको कहा जा रहा है । जिस चीज पर अपना वश नहीं है, जो अपने से अत्यन्त भिन्न है उसकी आशा बढ़ाना, यह तो अपने आत्मा भगवान् पर अन्याय करना है । यह स्वयं आनंदमय है । विकल्पों ने आनन्द में बाधा डाली है । जैसे गम्भीर शान्त कोई तालाब हो और उसमें कंकड़ डाल देवें तो जैसे उसकी शान्ति में खलल पड़ जाती है, तरंगें उठती है और वह सारे जलाशय को हिला देता है, ऐसे ही स्वभावत: ज्ञायकस्वरूप शान्त इस आत्मा भगवान में यह विकल्पों का ढला पड़ा है, तरंग उठती है और यह आत्मा को विकृत कर देता है । हे भव्य आत्मन् ! यही काम तू अनादि से करता चला आया है, इस कार्य से तू विराम

नहीं लेता । इस धन ईंधन के भार को अग्नि में डालकर जल रहा है, बढ़ रहा है, अग्नि ज्वाला से संतप्त हो रहा है और फिर भी मानता है कि मैं शान्त हूँ । दुःखी होकर भी अपने को दुःखी नहीं मान सकते । यह कितना तीन भ्रम है और दयनीय स्थिति है ?

उन्मत्त की दयनीयता—जैसे जिसका दिमाग खराब हो जाता है वह पागल दुःखी तो रहता है और अपने को दुःखी भी नहीं मान पाता, हँसता है, गाली देता है और दुःख उस पर बहुत अधिक है । इस दुःख को दूसरे लोग अनुमानतः जानते हैं । इष्टजन परिजन उस पर बड़ी तरस खाते हैं—हाय ! कैसे उसका दिमाग सुधरे, कैसे इसके विवेक जगे । इसकी तो बुद्धि ही उलट गयी है, किन्तु जिसकी बुद्धि पलट गयी है वह अपने को उल्टी बुद्धि वाला नहीं मानता है । दुःखी होकर भी अपने को दुःखी नहीं समझ पाता है और व्यग्र तो अत्यधिक हो रहा है । हे आत्मन् ! जितने अपने आत्मा के निकट आवोगे उतनी ही शान्ति पावोगे । एक ही निर्णय है । चाहे कोई राजा महाराजा हो, चाहे कोई कुबेर सेठ हो, कोई भी हो, प्रत्येक जीव अपनी इस अज्ञानता के कारण निरन्तर दुःखी हो रहा है ।

भेदभाव के विवेक की आवश्यकता—अग्नि में ईंधन को डाल-डालकर अग्नि को शान्त नहीं किया जा सकता है, वह तो बढ़ेगी । ऐसे ही दुःख तो आशा का लगा है और यह आशा जैसे-जैसे वैभव धन मिलता जाता है तैसे ही तैसे बढ़ती जाती है । यह सब आंखों देखी बात है । आप हम सब देख रहे हैं । इस जीव तत्त्व को जानने वाला यहाँ है कौन ? सब इस मायामयी पर्याय को निरखकर इस रूप शकलसूरत को देखकर यह मानते हैं कि यह ही है जीव । ये ही हैं इष्टजन, ये ही है अनिष्टजन । ऐसे मायामय ये सब भाव बनाकर अपनी कल्पनाएँ बढ़ाता है यह जीव । परमार्थ से अपने को समझता कौन है? ज्ञानी पुरुष पर ऐसी भी बड़ी विपदा आ जाये, जिसमें कि ये तीन लोक के जीव सब मार्ग छोड़ दें, किन्तु यह ज्ञानी सत पुरुष गृहस्थ हो तो क्या, साधु हो तो क्या, जिसमें ज्ञानबल प्रकट हुआ है वह प्रत्येक स्थिति में अडिग रहता है । जिसे दुःख न चाहिए उसका कर्तव्य है कि जिस वस्तु का जिस जिसका समागम हुआ है उसमें मोहमस्त न हो, उसमें आसक्त न हो । यह तो दो और दो चार जैसा युक्तियुक्त है । जो समागम में खुशी मानेगा उसे वियोग के समय दुःखी अवश्य होना पड़ेगा । वियोग सबके आयेगा । जिस जिसका संयोग हुआ है उस उसका वियोग अवश्य आयेगा । और वियोग के काल में ऐसा ही दुःख भोगना होगा, जैसे हम अनेक को दुःखी देख रहे हैं ।

खुद को जलाने की उन्मत्तता—जैसे कोई बावला थोड़ी अग्नि से जल रहा है और उसमें ईंधन डालकर अग्नि को बढ़ाये और बहुत जलने लगे तिस पर भी अपने को शीतल माने तो उसे आप कितना बावला कहेंगे होती है बच्चों की ऐसी आदत कि वे आग को छूते हैं, मुट्ठी में आग को पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं । नादान बच्चा जलती हुई अग्नि को पकड़ लेता है उससे भी बढ़कर है पागल पुरुष । कोई अग्नि से जल रहा है और उसी में ईंधन डाल दे, आग ज्यादा जलने लगे, तिस पर भी वह अपने को शीतल हुआ मानता है, ऐसे ही यह भ्रान्त आत्मा थोड़ी आशा की अग्नि से जल रहा हे, उसमें धन वैभव का ईधन डालकर आशा की

अग्नि को बढ़ाकर और ज्यादा जलने लगा । आश्चर्य की बात तो यह है कि उस ज्यादा जलती हुई स्थिति में अपने को वह सुखी मान रहा हैं । परमार्थ से वह सुखी नहीं है ।

व्यवहार में परमार्थता का अभाव—भैया ! क्या किया जाये कि सुख मिले ? धन सम्पदा बढ़ायें, उसमें भी सुख नहीं । अच्छी बात दिल में घर नहीं करती । क्योंकि धन सम्पदा की तृष्णा लगी हुई है । कीर्ति बढ़े, प्रशंसा बढ़े, यश बढ़े उसमें भी दु:खी रहता है । सत्य बात तो यह है कि किसको तुम क्या दिखाना चाहते हो जो ये दृश्यमान् मूर्तियां हैं वे सब मायामय हैं । परमार्थ नहीं हैं । जिसे कहते हैं कि कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा । भानुमती ने कुनबा जोड़ा । कहां तो ये आहारवर्गणा के स्कंध जिनसे शरीर बनता है, कहां ये कार्माणवर्गणा के स्कंध जिससे कर्म बनते हैं । तैजस वर्गणा के स्कंध जिससे तैजस शरीर बनता और भाषावर्गणा के स्कंध जिससे भाषा बनती, मनोवर्गणा के स्कंध जिससे मन की रचना होती । कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, और इस भ्रान्त जीव ने यह कुनबा जोड़ा । सारभूत तत्त्व है क्या यहां? किसे मानते हो कि यह मैं हूँ । जो मैं हूँ वह अदृश्य हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दघन हूँ । इस मेरे में किसी भी प्रकार का कोई अपनी ओर से मिलता नहीं है, किन्तु जरासी भूल पर इतनी मलिनता चिपट गई है कि स्वभाव की बात नहीं नजर में आती, नहीं समझ में आती ।

असंभव को संभव करने का व्यर्थ का प्रयास—भैया ! आखिर यह तो ख्याल करो—एक समय वह भी तो आता है कि सब कुछ छोड़कर देह को भी छोड़कर यहाँ से चला जाना है । जरा कल्पना में तो उस अगले १०-५ वर्ष को अभी ला दो मन में उपयोग में । मान लो यह अभी ही हो चुका हो कि मैं सब कुछ छोड़कर आगे चला गया, मर गया तो अब किस गति में होगा मेरे लिए तो अब यहाँ का कुछ नहीं रहा, जिसको निरखकर चिन्ता और व्याकुलताएँ मचाया करते हैं, सुगम स्वाधीन इलाज तो किया नहीं जाता और जो पराधीन, दुर्गम, दुर्गम भी क्या, असंभव है उसे सम्भव करने पर तुले हुए हैं ये भ्रमी जीव ।

प्रत्येक परिस्थिति में ज्ञानबल का प्रभाव—इस प्रसंग में यह प्रश्न हो उठता है तो फिर क्या करें क्या दुकान न जायें? क्या थोड़ी बहुत कमायी न करें? फिर कैसे व्यवस्था चलेगी इस देह की, घर की और अन्यजनों की और जो ऋषि संत त्यागीजन उपदेश दे रहे हैं उनकी भी क्या गति होगी? हम सब गृहस्थ छोड़ दें तो कैसे व्यवस्था बनेगी? अरे व्यवस्था कोई नहीं बनाता । मार्ग तो ज्ञान और वैराग्य का ही है युक्त चलने के लिए । उस पर दृढ़ता से न चल सकें तो उस कमजोरी में ऐसा रागभाव बर्तता ही है कि यह सब करना पड़ता है । करते हुए में भी यथार्थ बात तो चित्त में रक्खों कि मैं क्या हूँ, मेरा निमित्त पाकर फिर बाहर में कितनी परिणतियां बनती है? यथार्थज्ञान करने को कौन रोकता है? परिस्थिति से बाध्य है आप, ठीक है, रहेंगे बाध्य कुछ समय तक, पर ऐसा बाध्य होने की स्थिति में भी सच्चा ज्ञान करें तो उसे कौन रोकेगा? कौन आड़े आयेगा ? संसार के संकटों से छूटने के लिए एक सम्यग्ज्ञान ही आवश्यक हैं, जिसके प्रताप से सब औपाधिक संकट दूर हो जाते हैं । भ्रम कर करके खूब उमर बढ़ी, आशा लगा लगाकर जवानी का अन्त आ रहा है और इस स्थिति के बाद क्या गुजरता है तिस पर भी यह कितना बेहोश रहता है—इस बात को

गुणभद्र स्वामी कह रहे हैं--

श्लोक (८६)

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तब बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ।। ८६ ।।

निर्बुद्ध दशा—बुढ़ापा शुरू हुआ यह सारा सिर सफेद बालों से भर गया, श्वेत ही श्वेत ये केश दिख रहे हैं, यह क्या चीज है? यह क्या सिर में से सफेद-सफेद निकल रहा है ? ये सारे श्वेत बाल निकल रहे हैं, यह बुद्धि की स्वच्छता निकल रही है । जो देह में स्वच्छ बुद्धि थी अब उस स्वच्छता के लायक यह घर नहीं रहा । शरीर का बल भी घट जाता है । बुढ़ापे में और दुःख तो कम रहते हैं, पर बुद्धि की स्वच्छता निकलने से दुःख विशेष बढ़ जाता है ।

वृद्ध की हठ—लड़के हों चार छः और एक से एक बढ़िया व्यापार भी करते हैं, कमाऊं हैं, तिस पर भी इस बुड्ढे से नहीं रहा जाता । यह बुड्ढा उन लड़कों की किसी न किसी करतूत में कुछ न कुछ बतावेगा । लडके न मानेंगे तो यह खिसियायेगा कि कोई मानते नहीं हैं । उसके बताने से चाहे नुक्सान हो जाये, तिस पर भी यह कहा चुप नहीं बैठ सकता । अरे रोटी खाना और शान्ति से बैठना यही काम होना चाहिए, सो नहीं । शरीर जैसे ही शिथिल हुआ, इन्द्रियां जैसे शिथिल हुईं वैसे ही इसकी वाञ्छाएँ और बढ़ जाती है । यही तो कायरता है । बलवान् पुरुष के वाञ्छावों की परवशता नहीं होती है ।

लोक की प्रकृतिवश अशुभवृत्ति—ये देखो सफेद केश के बहाने से तेरी बुद्धि की स्वच्छता शरीर से निकली जा रही है, अब तू वृद्धावस्था में परलोक के वास्ते भी विचार नहीं करता । तू ऐसा विचार कि युवावस्था में तो धन स्त्री आदिक के सुख भोगेगा और वृद्धावस्था में धर्म करके परलोक का यत्न करेगा, सो देख, वृद्धावस्था जब आती है तो श्वेतकेश निकलते हैं, उससे बुद्धि की शुद्धता निकल जाती है । तू जो पहिले सोच रहा था वह सब व्यर्थ हो जाता है । कोई बिरला ही पुरुष होगा, जिसके आत्मकल्याण की भावना जगती है ।

लोक की प्रकृतिवश अशुभवृत्ति—एक ऐसी ही किम्वदन्ती है कि नारद के चित्त में आया कि चलो जरा पाताल लोक की सैर करें । गये पाताल लोक । नरकभूमि में देखा कि ठसाठस जीव भरे हुए हैं । कहीं खड़े होने तक को भी जगह न मिली । वहाँ से भागकर स्वर्गलोक गए । वहाँ विष्णुदेव दो तीन सेवकों सहित आराम कर रहे थे । नारद ने कुछ डाटासा कि तुम पक्षपाती हो । नरक में ठसाठस जीवों को भर दिया है, वहाँ खड़े होने की भी जगह नहीं है और यहाँ बिल्कुल सूनासाना है । अपना धर आप अच्छा बनाए हैं । तो विष्णु बोले कि यहाँ कोई आता ही नहीं है । जावो हम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि जो भी यहाँ आना चाहे उसे लिवा लावो । अब नारद आये मध्यलोक में । सोचा कि बूढ़ों से अपनी दाल गलेगी, उन्ही के पास चलना चाहिए । गये एक बूढ़े के पास । उससे कहा चलो बाबा जी ! हम तुम्हें स्वर्ग ले चलेंगे । स्वर्ग बिना मरे तो

कोई जा नहीं सकता, सभी जानते हैं । तो उस बूढ़े ने जवाब दिया कि हम ही तुम को मिले, तुम जावो, हम न आवेंगे । इसी तरह से कई बूढ़ों के पास नारद गये, पर वहाँ दाल न गली । सोचा कि अब जवानों के पास चलें । एक जवान के पास जाकर बोले नारद कि चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलेंगे । तो उसने भी अपनी सारी झंझटें बखान दीं । ये बच्चा बच्ची है, इनकी शादी करना है, पढ़ाना लिखाना है । यों कई जवानों के पास नारद गये, पर कोई भी जाने को तैयार न हुआ । तब नारद ने सोचा कि जवानों से दाल नहीं गलती चलो अब लड़कों के पास चलें । ढूंढ़ते-ढूंढ़ते एक १९ वर्ष का लड़का मिला, जो कि किसी मंदिर के चबूतरे पर बैठा हुआ माला फेर रहा था । सोचा कि यह जरूर चलेगा । नारद ने कहा—चलो बेटा हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें । वह झट तैयार हों गया, चल दिया । कुछ दूर चल कर कहता है कि महाराज ! एक बात सुनो, अभी १०-५ दिन पहिले सगाई हुई है, ५ दिन में शादी होने वाली है । कुछ रिश्तेदार तो अभी से आ गए है । सो महाराज शादी हो जाने दो, फिर आप ५ वर्ष बाद आना हम जरूर चलेंगे । ५ वर्ष बाद नारद पहुंचे । अब वह हो गया था २४ वर्ष का । नारद ने चलने को कहां तो वह बोला—महाराज ! एक बच्चा हो गया है । इसे समर्थ कर दें फिर चलेंगे । सो महाराज २० साल बाद में आना । २० साल बाद नारद आये । अब वह हो गया ४४ वर्ष का । नारद ने चलने को कहा तो वह बोला—महाराज अब नाती का मुख देख लें तब जरूर चलेंगे । आप १५ वर्ष बाद में आना । १५ वर्ष बाद नारद आये तो अब तो वह बूढ़ा हो चूका था । नारद ने चलने को कहा तो वह बोला, महाराज ! मैंने धन कमाकर रक्खा है लड़के नाती कुपूत हो गये हैं, यदि हम चलेंगे तो ये इस धन को थोड़े ही समय में बरबाद कर देंगे । सो महाराज आप इस भव में नहीं, अगले भव में जरूर आना तब हम चलेंगे । अब वह तो मरकर सांप बन गया, उसी स्थान पर रहे जहाँ धन गड़ा था । नारद वहाँ भी पहुंचे, स्वर्ग चलने को कहा तो वह फन हिलाकर कहता है—महाराज ! हम तो धन की रक्षा करने के लिए ही यहाँ पैदा हुए हैं । नारद लौट गए ।

आशानिवृत्ति व समतावृत्ति में कल्याण—अरे भैया ! कब कल्याण करोगे? वृद्धावस्था में तो और भी शिथिलता आ जाती है । वृद्धावस्था में वह ही पुरुष सफल होता है जिसने जवानी में तप व्रत संयम किया हो, ज्ञान कमाया हो । सो अब विराम लो । इस धनरूपी ईंधन को डाल-डालकर आशारूपी अग्नि को न बढ़ावो । अपने ज्ञानस्वरूप की ओर झुकाव करके शीघ्र धर्म कर लेना चाहिए । सर्वविकल्पों को मिटाकर समतापूर्वक मरण करेंगे तो उस समाधिमरण के प्रताप से सद्गति पाकर आनन्द पायेंगे ।

श्लोक (८७)

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुरन्
नानामानसदु:खवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।
मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे,
मोहग्राहविदारितास्यविवराद् दूरे चरा दुर्लभा: ।। ८७ ।।

संसारसमुद्र—यह संसार भयानक समुद्र के समान दुस्तर और दुःख कर है । जैसे कोई भयानक समुद्र जो प्रथम तो सारे खारी जल से भरा हुआ है और जिसमें बीच-बीच में बड़वानल की ज्वालाएँ भी निकलती हों, जिनकी बड़ी कठोर चपलताएँ उठ रही हों और जिनके मध्य में बड़े-बड़े मगर ग्राह विचर रहे हों, ऐसे समुद्र में कोई मनुष्य फंस जाये तो उस मनुष्य को कितनी व्यथा है, कितनी आकुलता है ? ऐसे ही जानों कि यह संसार उस भयानक समुद्र से भी घोर भयानक है । इस संसार में सुख तो है । जैसे समुद्र में जल तो है मगर खारी है । इसी तरह इस संसार में सुख तो है, लेकिन इन्द्रियजन्य, पराधीन, विषयकर उत्पन्न होता है, अतएव उससे तृप्ति होती नहीं है । ऐसा खारी जल की भांति है यह । जैसे खारी पानी के पीने से प्यास दूर नहीं होती, इसी प्रकार सांसारिक सुखों के भोगने से प्यास दूर नहीं होती है, तृष्णा दूर नहीं होती है ।

विषयों की व्यर्थता—भला कह लो एक जीने के लिए भोजन आवश्यक है, पर एक भोजन को छोड़कर बाकी जो अन्य विषय हैं—स्पर्शन के, गंध तेल इत्र फुलेल के, रूप देखने के, संगीत सुनने के, ये जो समस्त विषय है उन विषयों के साधन न मिलाये जायें तो यह जीव मर तो न जायेगा । हां भोजन और पानी न मिले तो मर जायेगा यह मनुष्य, पर इत्र फुलेल न सूँघे तो मनुष्य मर जायेगा क्या ? ये विषय व्यर्थ ही तो हुए ना । जीवन में साधक नहीं और व्यर्थ की कल्पनावों का उत्पादक है । चक्षुरिन्द्रिय से सुन्दर रूप मन के अनुसार रूप न देखा जाये, मान लो आंखें बंद करके ही बहुत काल तक रहा जाये तो क्या प्राण घुटते हैं, क्या मरण हुआ जाता है? यह भी बिल्कुल व्यर्थ का विषय है कि नहीं ?

इन्द्रियज विषयसाधन की दूरता—इन इन्द्रियों के दूर-दूर से ही विषय साधन होते हैं । रूप दूर से ही तो निरखा जाता है । जो सुन्दर रूप मालूम पड़े, तो आंख में लगा लो कुछ तो कुछ नजर ही न आयेगा । तो यह भी व्यर्थ का आपत्ति में फंसाने वाला विषय साधन है । संगीत की भी बात इसी प्रकार है । कदमों से न गायन सुनें, न गीत सुनें, न संगीत सुनें तो भी जीवन बिगड़ता नहीं है । भोजन पान की बात भी विचारणीय है । इस विषय में भी चटपटी और रसीली स्वादिष्ट चीजें न खाये तो कुछ बिगड़ता नहीं है । ऐसे ही स्पर्शन इन्द्रिय का विषय बिल्कुल व्यर्थ का है और फिर मान लो विषय साधनों का उदय है, करना पड़ता है, पर यह भी तो तृष्णा और व्याकुलता से भरा हुआ है । यह सांसारिक सुखसमुद्र में खारे जल की तरह है । इस सुख से तृष्णा शान्त नहीं होती है ।

ज्ञानसिंधु मे क्लेशाग्नि —जैसे समुद्र में बड़वानल की ज्वालाएँ फूट निकलती है । भला देखो विचित्रता

है कि पानी, किन्तु उसमें से अग्नि निकल आती है उसी को बड़वानल कहते हैं । है ना अचरज की बात कि पानी में आग लग जाये और यहाँ देखो तो पानी से आग ही पैदा हो आती है । इसी को बड़वानल कहते हैं । ऐसे ही मानसिक जो दुःख हैं, चिंताएँ हैं ये भी बड़वानल की तरह है । जहाँ मानसिक आभ्यंतर निरन्तर पीड़ा चल रही है वह पीड़ा इस जीव को सोख रही है । जैसे समुद्र में उठा हुआ बड़वानल जल को सोखता है ऐसे ही संसार का जो मानसिक दुःख है वह मानसिक दुःख इन्द्रियजन्य सुख तक को भी भोगने नहीं देता । जब कोई मानसिक क्लेश होता है तब भोजन भी नहीं सुहाता, खाया नहीं जाता । जब कभी धन बढ़ाने की तृष्णा की धुन में मानसिक क्लेश बढ़ जाता है तो जो पास में सामग्री है, साधन है, वैभव है उसका भी सुख नहीं भोग सकता । एक कहावत है—आधी छोड़ सारी को धावे । आधी मिले न सारी पावे ।। वर्तमान प्राप्त सामग्री में संतोष न करके जो अप्राप्त है, नहीं है उतने वैभव की ओर दृष्टि रहे तो वह अधिक तो प्राप्त है ही नहीं । उसका सुख कहां से हो, और जो प्राप्त है उसका भी सुख नहीं रह पाता । बस यही मानसिक दुःख है । यह इस संसार में बड़वानल की तरह संताप उत्पन्न करने वाला है । भयानक घोर समुद्र से भी अत्यन्त भयानक यह संसार है । समुद्र में तरंगें जैसे चंचल और कठिन चलती रहती हैं, ऐसे ही इस संसार में जन्ममरण बालक जवान वृद्ध सभी-सभी दशायें चंचल होकर चलती रहती हैं ।

क्लेशमुक्ति का बीज यत्न—संसारसमुद्र में फंसा हुआ यह जीव अनादि काल से दुःख भोग रहा है । इन समस्त दुःखों से छूटने की जरासी कुंजी है । जिसने कुञ्जी पा ली उसको सुगम है और न पाया तो उसे कठिन अथवा असम्भव है । इस देह के अन्दर सोचने वाला, चिन्तन करने वाला कोई सत् पदार्थ है ना । जिसको लोग मैं-मैं कहा करते हैं—मैं आया, मैंने किया । मैंने सोचा, वह मैं क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप एक झलक में जान जाता है । जैसे महल का उठाना एक सेकेण्ड में नहीं बनता, कोई व्यापारादि का चलाना एक सेकेण्ड में नहीं बनता, सांसारिक साधनों की बात एक मिनट में नहीं होती, किन्तु यह आत्मस्वरूप की झलक एक मिनट नहीं एक सेकेण्ड नहीं, उसके भी कई हिस्सों में जितना समय हो जाता है, उतने में हो जाता है । किन्तु अनादि काल से मोहवासना से दूषित इस आत्मा को ज्ञानभावना और ज्ञानाभ्यास की विशेष जरूरत है ।

मानवजीवन का लक्ष्य—सच पूछो तो यह मानवजीवन एक आत्मस्वरूप का परिचय पाकर उसमें मग्न होकर आत्मकल्याण करने के लिए है । यह निर्णय जब तक न किया जायेगा तब तक तो भटकना पड़ेगा और यह जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया जायेगा । यह बात सबकी अपनी-अपनी है । एक इस आत्मसाधना के सिवाय बाकी अन्य जो क्रियाएँ है उनमें खूब परख लो, उनको करके अन्त में लाभ कुछ न मिलेगा । वर्तमान में भी यह कल्पना मात्र है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा घर हैं, यह मेरी स्त्री है, और फिर उन सबका भाग्य तुम्हारे भाग्य में समाया हुआ है क्या? यह भी विश्वास नहीं होता कि जितने घर में प्राणी हैं उन सबका भाग्य उन सबके साथ है, इतना भी विश्वास न हो तो फिर अनाकुलता पाने की तो चर्चा ही क्या की जाये? अरे यह सम्भव है कि घर में रहने वाले जो लोग है उनका भाग्य तुम्हारे भी भाग्य से अधिक अच्छा हो । और यदि

उनका भाग्य ऊँचा न होता तो कमाने की कला अच्छी जानने वाले आप उनकी सेवा क्यों करते ? इस लोक में चिन्ता की बात तो कहीं रंच भी नहीं है । चिन्ता के ढंग से अपना ज्ञान बनाया तो चिन्ता बनती है, नहीं तो कहीं चिन्ता की बात ही नहीं है ।

ज्ञानियों का बल—यह संसार यद्यपि खारे समुद्र से भी भयानक है, फिर भी जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे इस मोह के ग्रास के मुख से अलग बने रहते हैं । बाह्यदृष्टि करके किस ओर दौड़ लगायी जाये कि जहाँ मेरे को शरण मिल जाये बाहर में आलम्बन देने वाले तो मिल जायेंगे, पर यह सब धोखा है । कोई मेरी रक्षा कर सके, ऐसा किसी दिशा में दौड़ लगाकर कहीं पहुंच जानें से कोई मिल जाये तो बता दो । कहीं इस जीव को शरण नहीं है । इसका शरण तो स्वयं ही यह है । जब बाह्यपदार्थों का विकल्प त्यागकर ज्ञानपुंज मात्र अपने को अनुभव करें, बस उसी की शरण मिलेगी । फिर रही यह बात कि आखिर फिर भी तो शरीर लगा है । इसको खिलाना पिलाना और व्यवस्था करना फिर भी तो आवश्यक है । ठीक है, पर उसके लिए जीवन न समझो । इससे तो रहित होने का प्रोग्राम है अपना ।

ज्ञानभावना का पूज्य क्षण—भैया ! कोई क्षण ऐसी भावना तो आए कि मैं शरीर से रहित खुद ही खुद रह जाऊँ । इसकी सफलता देह में दृष्टि करने से न मिलेगी । यह आत्मा तो बड़ा समर्थ सत् है । देहदृष्टि से तो देह मिलने की परम्परा ही बढ़ेगी और आत्मदृष्टि रखोगे, देह से विविक्त ज्ञानमात्र आत्मा की अनुभव करोगे तो देहों को मिलना छूटेगा । ऐसा भावना करो कि मुझे तो इस शरीर से भी न्यारा रहना है । सर्व शरीरों से जुदा केवल ज्ञान स्वरूपास्ति मात्र मुझे रहना है । यह अपना प्रोग्राम यदि नहीं बन पाया तो फिर मंदिर में किसलिए आते हैं? सो बतावो? एक इस प्रयोजन को छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन मन में हो और उन उद्देश्यों से मंदिर में आना हो रहा हो तो फायदे की बात कुछ न मिलेगी । भले ही कुछ मंदकषाय होने से पुण्य बंध हो जाये । प्रथम तो इसका ही विश्वास नहीं है कि मंद कषाय है, क्या एक तेज बोलने से ही तीव्र कषायी कहलाता है? मोह भरा रहे, तृष्णा बना रहे, राग बना रहे, लोभ बना रहे, बाह्यवस्तुवों को अपनाने की बुद्धि रहें, यह तो गुस्सा करने वाले से भी तेज कषाय हैं । मंद कषाय भी कहां हई ? अब सोच लीजिए । यदि चित्त में यह बात नहीं समाती है तो मंदिर में आकर कोई लाभ की बात नहीं पायी ।

प्रभुमार्ग के अनुसरण का निर्णय—भैया ! एक निर्णय बनावो, मंदिर आते ही प्रभु की मूर्ति को निरखकर प्रभु के परिणमन में जो बातें गुजर रही थीं, उन सब दृश्यों को अपने उपयोग में ले आएँ और उनके चारित्र को निरख कर अपने में ऐसी भावना जगावें कि हे प्रभो ! जिस, मार्ग से आप चले उस मार्ग पर चले बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता । आपने जो किया वह श्रेष्ठ ही किया, वही मेरे करने लायक काम है । ऐसी उपासना का प्रोग्राम मन में न आये तब तक नाम मात्र के हम धर्मी पुरुष है । वास्तव में धर्म का पालन हो और दुःख रह जाये यह हो नहीं सकता । धर्म का नाम लगाया जाता रहे और कषायों की बात ही पोषी जाये, वहाँ अनाकुलता का क्या काम है?

संसाररूपी भयानक समुद्र और उसके तिरने का उपाय—यह संसार खारे समुद्र से भी भयंकर स्थल है ।

कोई जीव, ऐसे समुद्र में फँस जाये जहाँ खारा पानी है, बड़ी तेज लहरें उठ रही है और कहीं-कहीं बीच से अग्नि के भयंकर संताप उठ रहे हैं और नीचे हजारों मगर फिर रहे हैं तो सोचो उसको कितनी व्याकुलता और बेचैनी है? ऐसे ही जानो कि जहाँ संसार सुख का खारा जल भरा हुआ है, पीवे तो प्यास बढ़े, तृष्णा बढ़े । जहाँ मानसिक चिंतावों की भयंकर धारायें चल रही है ऐसे स्थल में यह जीव कितना दु:खी है ? देखो पानी में भी भभका उठता है और आनन्दनिधान इस आत्मा में भी मानसिक दु:ख के बड़वानल का भभका उठ रहा है, बीमारी बन रही है ।....डाक्टर साहब बीमारी की दवा दो ।....अरे जो तुम्हारे रोग है उसकी तो हमारे पास दवा ही नहीं हैं । छोड़ दो चिन्ता, समस्त पर है, उनकी चिन्ता, उनका शोक, उनका विचार, मोह व्यामोह और आकुलता छोड़ दो । कोई परिस्थिति ऐसी हो कि न छोड़े जा सकें तो वहाँ यह समझ कर छोड़ दो कि हमारे वश की परिस्थिति तो नहीं है । अब जैसा जो जहाँ परिणमन होगा, हो लेगा, जरासी औषधि है । अपने को सबसे न्यारा जान लो, चिन्ताएं त्याग दो, जैसा समय गुजरे, गुजरने दो ।

अतीत और भाषी निर्णय—अहो ! यह जीव भव-भव में भी व्यामोह नहीं छोड़ता और मरण कर जाता है, दूसरे भव में भी पहुंचकर व्यामोह नहीं छोड़ता । यह सोच यह बात, यह चाल अनादिकाल से चली आ रही है । इस संसारसमुद्र में यह मोहरूपी ग्राह अपना मुख फाड़ रहा है जीवों को लीलने से लिए । इस मोह से जो दूर विचरता है, जो इस मोह के विषय से तद्रूप नहीं होता है—ऐसे जाव संसार में दुर्लभ है, थोड़े हैं । अगर ऐसे जीव बहुत हो जायें तो यह संसार फिर चल न सके । संसार कैसे चलेगा देखो संसार में कितने प्राणी हैं? इतने प्राणी है कि अब तक उनमें से अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हो गए हैं और अनन्तकाल तक मोक्ष को प्राप्त होते ही रहेंगे । आज संसारी जीवों की संख्या का अनन्तवां हिस्सा भर मुक्त जीव हैं और अनन्तकाल के बाद तक भी संसारी जीवों की अनन्तानन्त हिस्से रूप अनन्त की संख्या मुक्त जीवों की रहेगी याने सब जीवों का अनन्तवां भाग भी इतनी बड़ी वृहद् राशि है, अनेक अनन्त होने पर भी वह अनन्तानन्तवां भाग है ।

जैसे एक अरब रकम में से एक-एक पैसा निकलता जाए तो उसे यह भी कह सकते हैं कि अरब का करोड़वां हिस्सा है और सौ हो जाए तो करोड़वां हिस्सा है—ऐसे ही समझिए अनन्तानन्त में से कई अनन्त निकलें, वह भी अनन्तानन्तवां भाग है । एक निगोद शरीर के जितने जीव मिलते हैं, उतनी भी संख्या नहीं हो पाएगी अनन्तानन्तकाल तक मुक्त जीवों की । यह संसार सारा क्लेशमय है फिर भी ज्ञानीपुरुष में ऐसी सामर्थ्य है कि वह मोह के ग्रास से दूर रहता है, वह निकटसंसारी है । अल्पकाल में वह मुक्ति को पाएगा । अपना प्रोग्राम भी यही बनाना है ।

श्लोक (८८)

अव्युच्छिन्नै: सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यै:,
श्यामङ्गीना नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।

धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि ।
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशंकयालोक्यते ते ।। ८८ ।।

वीर सुकुमारों को धन्यवाद—वे पुरुष धन्य है जो गृहस्थावस्था में बड़े लाड़ प्यार से पाले गए और अनेक प्रकार की सम्पन्नता के सुख भोगते थे व कदाचित् ज्ञानवैराग्य जगने पर सकल संन्यास करके स्थिर आसन से निश्चल उपयोग रखें, जो एक ज्ञायकस्वरूप का अनुभवन करें, जिसके ऐसे स्थिर शरीर को निरखकर ठूंठ जानकर हिरणियां अपना अंग खुजलायें—ऐसी स्थिति जिनकी हो, वे महाभाग धन्य हैं । जिन्होंने ऐसे सुख पाये हैं, जिनका विच्छेद नहीं हुआ, कोई पुरुष तो सुख का विच्छेद होने पर कुछ हैरानी मानकर भावुकता परित्याग कर देते हैं, किन्तु जिसके लिए धन्यवाद कहा जा रहा है, उस पुरुष की बात यहाँ यों बतायी गयी है कि जिसके भी जीवन में सुख का कभी विच्छेद नहीं हुआ । सुख के समान सुख के साधन तिसकर पाला हुआ है, उन्होंने सकल संन्यास करके आत्मीय आनन्द पाया है ।

वीर सुकुमाल—जैसे एक सुकुमाल मुनीश्वर की कथा है । जो बड़ी ही सुकुमार क्रियाओं से पाले गए थे, जो रत्नों की ज्योति से दीप्त महल में निवास करते थे । दीप की शिखा भी जिन्होंने आंखों से न निरखी, कमल के फूल में बसे हुए सुगंधित चावलों का भोजन ही जिनके चलता था और और भी तो समस्त आराम के साधन थे, पर जब यथार्थज्ञान होता है—यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्यों से भिन्न, परभावों से विवक्त केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ इस मेरे का किसी भी अन्य पदार्थ से कुछ संबंध नहीं है, यह मैं न किसी का स्वामी हूँ, न कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ, मेरे गुण अथवा पर्याय का किसी परवस्तु में सम्पर्क और प्रवेश होता ही नहीं है, फिर यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप जैसा हूं, तैसा उपयोग रखना कर्तव्य है । जब ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञान के प्रसाद से वैराग्य हो जाता है, तब वह सुकुमाल जिसको महल से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं दिया जाता था, वह माता पिता का इतना प्रिय था । वे एक पल भी सुकुमाल को अन्यत्र न देखना चाहते थे ।

विरोध उन्हें सहन न था । इस प्रकार के लाड़प्यार में पाले गए सुकुमाल जब विरक्त हुए तो अन्य कुछ उपाय न निरखकर रात्रि के समय वे धोतियां बांध बांधकर रस्सासा बनाकर महल के पीछे से धोतियों के सहारे ही निकल गए । कितना सुकोमल था उनका शरीर । अच्छे रास्ते में जा रहे हैं तो भी कंकड़ चुभते हैं और पैरों के तले से खून भी निकलता जाता है, लेकिन इस ओर का उन्हें भान ही नहीं है । यह उपयोग जिस ओर रम जाता है, उस उपयोग की दृष्टि में वही समाया हुआ रहता है । सुकुमाल को केवल यह विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूं—ऐसा निर्णय हो चुका, उसी ओर दृष्टि है । इस कारण रक्त की ओर ख्याल भी नहीं जाता, चले जा रहे हैं वन को । वन में जाकर वे किसी योगीश्वर के समक्ष दीक्षा ले लेते हैं और आत्मध्यान में अडिग पद्मासन से बैठ जाते हैं । रास्ते में पैरों से गिरे हुए खून को चाटती हुई स्यालिनी सुकुमाल के निकट पहुंची । सुकुमाल को देखते ही पूर्वभव के स्मरण से वह बड़ी क्रुद्ध हो गई । उसने अपने बच्चों सहित सुकुमाल के शरीर का भक्षण करना शुरू कर दिया । तीन दिन तक ऐसे उपसर्ग में यह सुकुमाल

कैसे अडिग रहे?

धुन की दृढ़ता—जिसको जिसकी धुन हो जाती है, वह उस वस्तु की प्राप्ति के लिए सब कुछ सह सकता है । किसी को धन प्राप्ति की धुन हो तो सफर करते हुए में अनेक प्रकार के संकट आयें, उनको भी वह सह लेता है । ऐसे ही जिसे ज्ञाताद्रष्टा रहने की, विशुद्ध आनन्द को भोगने की, सर्वविकल्पों से अलग होकर अपने आपके इस ज्ञानस्वरूप में प्रवेश करने की जिसे धुन है—ऐसे पुरुष को कैसे किसी बाह्य उपाधि शरीर आदिक के आश्रय वेदना की तो अनुभूति हो ।

धन्य हैं वे योगिराज जो बड़े लाड़प्यार से भी पाले पोषे गए थे और जिनकी युवावस्था में अनेक अथवा मन:प्रिय रमणियों ने विनय सत्कार और मिष्ट भाषण करके अथवा अपना कलाकौशल से जिनको प्रसन्न किया है, जो जवानी में भी बड़े सुख के साधनों में रहे हैं—ऐसे महापुरुष जवानी की अवस्था के बीच में ज्ञान पाले हुए ज्ञानी संत पुरुष की तरह विरक्त होकर आत्मध्यान में मेरुवत् निश्चल रहते हैं व वहाँ ये हिरनियां अपना खुजला अंग खुजाने को निशंक हो ठूंठ समझकर आती है । ऐसी अन्तरभावना के कारण जिनकी स्थिति हुई, वे प्रशंसनीय हैं । वे पुरुष धन्य हैं जो आखिर सबका परिहार करके अपने विशुद्ध ज्ञान का उपयोग कर आनंद में मग्न रहा करते हैं ।

बैरी और उसका विजय—मोहमात्र और ममत्वभाव हम आपके बैरी है । जगत् में अन्य कोई पदार्थ बैरी नहीं है । कोई जीव मेरा दुश्मन नहीं है । ये सभी जीव चाहे उनकी चेष्टा इनके विषयसाधनों में बाधक भी बने, तिस पर भी दूसरे जीवों ने केवल अपने कषाय की चेष्टा की है, दूसरे से कोई बैर भजा भी नहीं सकता है । एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में अपना गुण, द्रव्य, पर्याय, प्रभाव और असर कुछ भी नहीं पहुंचा सकता । यह तो सब जितने विभावों का परिणमन है, निमित्तनैमित्तिक योग से प्रत्येक पदार्थ का अपने-अपने उपादान में विभावों का परिणमन है । यह ज्ञानी पुरुष अपने को अशत्रु देख रहा है । मेरा दुनिया में कोई बैरी नहीं है । चाहे कोई अज्ञानी अपने चित्त में ऐसी भी कल्पना करे कि मेरा यह बैरी है, तिस पर भी कोई किसी का बैरी नहीं है । सब जीव अपने-अपने कषायों के अनुसार मन, वचन और काय की चेष्टा किए जा रहे हैं । ऐसा सम्यग्ज्ञान पाकर इस जीव को विश्राम होता है ।

समृद्धि—भैया ! अपने आपमें जैसे पूर्वभव का समागम आज अपने लिए कुछ नहीं है, ऐसे ही चंद दिनों के बाद इस भव का समागम भी उस ही प्रकार व्यवहारमात्र का भी कुछ न रहेगा । योगिराज ज्ञानीसंत श्लाघनीय है । जो अपने को मात्र ज्ञानस्वरूप ही निहारते हैं और ऐसे ही श्रद्धा बनाते हैं । जैसा अभ्यास होता हैं वैसी ही इस जीव की प्रवृत्ति होती है । पूर्व पुण्य उदय कर सुखसम्पन्न और अनुकूल स्त्री पुत्रादिक के कारण महाभाग पुरुष संसार सुख से भी सुखिया रहते हैं और जो इस प्रकार के सुखिया रहे थे, ज्ञान पाने पर जब वैराग्य बढ़ा, सकल संन्यास किया उनके दृढ़ मन, वचन, काय की स्थिरता हुई । जैसे स्वरूपाचरण चारित्र का वर्णन करते समय यह बताया गया है कि ऐसी निश्चल काया हो जाती है कि पत्थर जानकर जंगल के पशु उससे अपनी खाज खजाने लगते हैं । आत्मध्यान की ऐसी ही विचित्र महिमा है । परमसुखिया तो

तीर्थकर चक्रवर्ती भी तब हुए जब आत्मज्ञान के आग्रह से मेरुपर्वतवत् निश्चल विराजे । अपने आपके अन्तर में अपने आपके मन को निश्चल रखने का यत्न करना चाहिए ।

दुःख के कारण को खोजकर दूर करना—यह मन जिसका निश्चल नहीं रह पाता है उसके विचल होने का कारण है किसी परपदार्थ से अपना हित और बड़प्पन समझना । जब कभी भी अपने को क्लेश हो, मन की व्यग्रता हो तो बजाये किसी परवस्तु के विग्रह अनुग्रह करने के एक यह तलाश करना चाहिये कि मैंने किस परपदार्थ को अपने उपयोग में जो स्थान दिया है, उसे खोजो । पर का आश्रय लिए बिना इस जीव को क्लेश हो नहीं सकता । यदि किसी भी पर को अपने उपयोग में स्थान न दिया जाये तो क्लेश का फिर कोई कारण ही नहीं बन सकता । यह खोजों अपने आपमें कि मैंने किस परपदार्थ में अपनी मोहदृष्टि की है, वही दुःख का कारण है । चाहे कुछ करना पड़े किसी परिस्थिति में कैसी भी क्रिया बने, लेकिन कुछ क्षण, कुछ मिनट अथवा कुछ सेकेण्ड ऐसी अपने अन्तरंग में स्थिति बनाना चाहिए कि जिस समय किसी भी परद्रव्य के प्रति मोह और अनुराग न जगे, विकल्प न उठे ऐसी मन की संताक करें जिसके पश्चात् यह उपयोग भी संभल जाये । ऐसा करना प्रत्येक कल्याणार्थी का कर्तव्य है । धनसंचय विशेष होने से आत्मा का कुछ भी पूरा न पड़ेगा । इन सब समागमों को छोड़कर जाना पड़ेगा । जैसा परिणाम किया उसके अनुकूल आगे यह वैसा ही स्थान पायेगा पूरा न पड़ेगा यहाँ के समागमों से । समागमों की दृष्टि नियम से क्लेश का कारण बनती है । उन सब क्लेशों से निवृत्त होने का उपाय क्लेशरहित ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में अपने उपयोग को लगाना है । जिसने ऐसा किया वह पुरुष धन्य है, इसी सम्बन्ध में गुणभद्र आचार्यदेव और कह रहे हैं ।

श्लोक (८९)

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं,
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।
मध्ये वृद्धतृषार्जितु वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभिः
वार्द्धिक्येऽर्धमृतः क्व जन्म फलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ।। ८९ ।।

बाल्यकाल के क्लेश—बालक अवस्था में जब सम्पूर्ण अंगों से पूर्ण भी न था, कुछ हित अहित को जानता भी न था । बालक क्या जाने हित और अहित को? वह तो जलती हुई अग्नि के कण को देखकर उसे भी हाथ से उठाकर मुख से खाने का यत्न करना चाहता है । ऐसी बाल्यावस्था में हित और अहित का कोई परिज्ञान नहीं रहा और जब जवानी आयी तो स्त्रीविषयक कामवासना के कारण भ्रमण करते हुए यह अंध बना और मध्य में जो स्थिति हुई वह तृष्णा कर व्याप्त हुई । पशुवों की भांति भार ढो ढोकर धन उत्पन्न करने के लिए अनेक श्रम कर रहा है । कोई खेती में महान् श्रम करता है, कोई किसी व्यापार में कष्ट उठाता है ।

सर्वत्र यथार्थज्ञान का आवश्यक कर्तव्य—देखिये ये ही सब बातें एक आत्मविवेक पाये बिना निन्दा में निहित होती जा रही है । क्या करें गृहस्थावस्था में रहकर कुछ करें नहीं क्या ? खेती व्यापार सेवा कुछ भी

व्यापार न करें क्या? यह तो गृहस्थ के लिए गृहस्थावस्था में हितकर नहीं हो सकता । सुनिये गृहस्थ त्रिवर्ग का साधक कहलाता हैं—धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों वर्गों को एक समान सेवन करे उसे सद्गृहस्थ कहते हैं । कोई पुरुष धर्म धर्म को ही स्थान देता रहे, गृहस्थावस्था में न धन के अर्जन की ओर दृष्टि दे और न परिवारपालन देशपालन परोपकार आदिक उपायों की ओर दृष्टि दे, केवल धर्म ही धर्म की धुन रक्खे, ऐसे पुरुष को तो साधु हो जाना पड़ता है । न वह गृहस्थ रहे, धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का निरादर करे तो उस गृहस्थी की आगे निभ नहीं सकती कुछ । ठीक है तिस पर भी इतना तो कर्तव्य है ही कि निज को निज पर को पर जानकर परवस्तुवों में हित का विश्वास न करे । इस मध्यावस्था में तृष्णा बढ़ती है तब यह पशु के समान भार ढो ढोकर महान् क्लेश पाता है ।

अज्ञानी के अवस्थाकृत बुद्धिविक्लवता—जब वृद्ध हुआ यह तो अर्द्ध मृतक सम हो जाता है । अंग शिथिल हो गए । लोग कहते हैं ना कि यह तो अधमरा हो गया । सारे मनुष्यजन्म में समस्तपनों में ऐसी दशाएँ गुजरें, वह जीवन कैसे सफल होगा? निर्मल धर्म उनके कहां से उत्पन्न होगा? छहढाला में लिखा है—बालपन में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रहो और जब वृद्ध हुआ तो अर्द्ध मृतकसम भयो, अब बतावो अपना स्वरूप वह कैसे लख सकता है? यह सर्वथा एकान्त से बात नहीं है । कोई वृद्ध पुरुष का अथवा सभी का जीवन रहा आये तो वृद्ध होना ही पड़ता है । क्या सारे जीवन भर बड़े-बड़े धर्म तपस्याएँ संयम इन कायों में अपने को लगाए और बूढ़े हो गए तो यदि आत्मज्ञान के अपात्र रह जायेंगे तो इस तरह फिर साधु बनने की क्या जरूरत है आखिर बूढ़े होना ही पड़ेगा और बुढ़ापे में आत्मस्वरूप से वंचित रह जाना होगा । उसका समाधान यह है कि यह सब जो कहा गया है वह ऐसे एक व्यक्ति के बारे में लगाना चाहिए, जिस पुरुष ने बचपन में कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है और जवानी में कामांध रहा वही पुरुष जब वृद्धावस्था पाता है, अंग शिथिल हो जाते हैं, भीतर में जो आत्मबल नहीं बना पाया, सो वह पुरुष अब कैसे आत्मा का ज्ञान कर सकता है । एक व्यक्ति के सम्बन्ध में बात समझना ।

ज्ञानी के अवस्थाकृत विकल्पता का अभाव—जो पुरुष बचपन में ज्ञान प्राप्त करता है और जवानी में भी विषयासक्त नहीं होता, उसके बुढ़ापा आ जाये तो बुढ़ापे में भी उसके ज्ञानधर्म उत्साह सब कुछ जरूर चमकता है । जिसने युवावस्था में धर्म की ओर दृष्टि नहीं की, वह ही पुरुष वृद्धावस्था में विचलित होता है । अपना कर्तव्य है कि कोई भी उमर हो, बचपन हो, जवानी हो अथवा वृद्धावस्था हो, जब कभी भी ज्ञान किरण जगे, दृष्टि जगे हमें उस आत्मज्ञान की उपासना में लगना चाहिए । मुख्य काम तो जीव का आत्मकल्याण है और गौण काम है आजीविका का साधन । ऐसा निर्णय ज्ञानियों के होता है । जो आनन्द अपने आपको केवल ज्ञानमात्र निहारते रहने में होता है वह आनन्द अन्य किसी भी बाह्यविषयों की साधना में नहीं होता । ऐसा जानकर इस ही ज्ञान की उपासना के लिए अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर कर दीजिए । यदि यह आत्मज्ञान मिल सका तो समझो कि मैंने सब कुछ पा लिया ।

श्लोक (९०)

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं,
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यन्नापितः ।
वार्द्धिक्येप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं,
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ।। ९० ।।

प्रबल बैरी के विनाश प्रोग्राम के अभाव पर आश्चर्य—कोई पुरुष यदि एक बार भी अपना बुरा करे तो उससे उपेक्षा तो हो ही जाती है, साथ हीं उसके नाश करने का भी संकल्प कर लिया जाता है, किन्तु देखो इन कर्मों से हम आपने अनादिकाल से नाना बुरा परिणमन किया, करते चले जा रहे हैं और इस भव में भी अभी बतावेंगे कि कैसे-कैसे कष्ट इन कर्मों के निमित्त से मिलते हैं, फिर भी कर्मों के नाश का यह उपाय नहीं करता है ।

बाल्यास्था में कर्मवृत्त उपद्रव—इससे पर्याय में बाल-अवस्था में इन कर्मों ने जो कुछ तेरा बुरा किया उसका स्मरण भी उचित नहीं हो पाता है । बाल्यावस्था के बालकों को देखकर परख लो, न ज्ञान है, न विवेक है, इन कुशलता, न वृद्धि, एक हम आपको उनकी निश्चिन्तता दिखती है, पर वे भी निश्चित नहीं है, उनके भी क्लेश हैं । उनके मनमाफिक कोई बात न हो सके तो वे दु:खी हो जाते हैं । बच्चे जब चाहे रोते रहते हैं, उनके भी क्लेश है । विवेक तो है ही नहीं, बुद्धि नहीं है । यह तो बताने की बात है कि बच्चे कषायरहित होते हैं । अरे क्या उनके कषाय नहीं है जैसी कषाय बड़ों के हैं वैसी ही कषाय उन बच्चों के हैं । वे बच्चे नहीं हैं, वे बूढ़े होने के बाद आये हैं । पूर्वभव में तो बड़े बूढ़े थे, कितना कषायों का उनके पास स्टाक था । वह सब स्टाक लेकर बचपन में आये हैं । उन्हें यों न देखना कि कषाय उनके नहीं है, पर इन्द्रियां अभी पुष्ठ नहीं है, वे कषायों का प्रकाशन नहीं कर पाते हैं, पर कषायें उनके भी है ।

आबालवृद्धों में परस्पर दूसरे को सुखी मानने का भ्रम—बचपन की अवस्था में तो जवानी से भी अधिक क्लेश हैं, पर लगता ऐसा है कि ये बच्चे अच्छे हैं । और बच्चे कोई ५-७ साल के हों तो वें सोचते हैं कि ये बड़े लोग बड़े अच्छे हैं । बड़ी अवस्था के लोगो की, उन बूढ़ों की बात को उपादेय मानते हैं, सो उनकी नकल भी किया करते हैं । उन बूढ़ों जैसा कमर झुकाकर लाठी लेकर चलना, वैसा ही खांसना और इसमें वे बच्चे कुछ अपना बड़प्पनसा समझते हैं । अपने को करने का यही काम है, ये लोग बड़े अच्छे हैं, बच्चों को वृद्धावस्था वाले सुन्दर लगते हैं, बड़ों को बचपन की अवस्था वाले सुन्दर लगते हैं । दु:खी सभी एक से है ।

अहितकारी कर्मों के प्रति—इन कर्मों ने क्या क्लेश उपजाए ? इनके निमित्त से हम कैसी दयनीय हीन स्थितियों में आये हैं, यह बताया जा रहा है । इतनी हीन स्थिति पाकर भी दु:खों से दूर होने का प्रोग्राम मन में बैठता ही नहीं है । अरे जो कुछ यहां मिला है उससे पूरा क्या पड़ेगा ? तृष्णा करके, असन्तुष्ट रहकर यह जीवन बिता दिया जायेगा और इसे आगे अपनी यात्रा करनी पड़ेगी । इन कर्मों ने इस जीव का अनन्त बार

बुरा किया । इनके नाश करने का मन में संकल्प क्यों नहीं करता ? बाल्यावस्था के कष्ट बालक ही तो भोगते हैं । कुछ थोड़ीसी गल्ती हो जाये तो मां बाप उसे पीट देते हैं । वे बच्चे अपनी कल्पनावों में बसे हुए दु:खी होते रहते हैं । जब बाल्यावस्था आयी, किशोर अवस्था आयी तो उस समय के क्लेश भी विचित्र होते हैं । मध्य अवस्था में विवाह हुआ, बड़े हुए, अब मध्य अवस्था के क्लेश नाना प्रकार के हैं । धन का उपार्जन करने में क्लेश और जिनको जितना धन मिला है वे उतने को पर्याप्त समझते ही नहीं हैं । उससे अधिक होता तो सुख था, ऐसी कल्पना बन जाती है । सो जो कुछ पास में है उसे भी आराम से नहीं भोग सकते । यही स्थिति है मध्य अवस्था की । इस जवानी में भी इन कर्मों ने क्लेश दिया ।

सकल क्लेशों का सामना—ऐसा कोई दु:ख नहीं बचा जो न मिला हो । सांसारिक रोग मानसिक कष्ट, अनेक चिन्ताएँ, कल्पनाएँ, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग अथवा बैठे-बैठे ही इच्छा बढ़ाकर निदान बना बनाकर दु:खी होते रहते हैं । सभी क्लेशों को इस जीव ने पाये हैं । कष्टों से परिपूर्ण यह मध्य अवस्था है । ये सब कष्ट कर्मों के निमित्त से ही तो होते हैं । कष्ट आया जीव में, उपादान है यह आत्मा, पर ऐसा कष्ट भोगना इस आत्मा में अपने आपके स्वभाव से नहीं होता । आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध शान्त निर्विकार ज्ञानानन्दमय है । इन कर्मों के निमित्त से हमें बार-बार कष्ट भोगना पड़ा, तिस पर भी इन कर्मों से विरक्ति नहीं आती । ओह ! कितना कषायों का मैल चढ़ा हुआ है कि कषायों से दु:खी भी होते जाते और उन कषायों को छोड़ भी नहीं पाते । वस्तुस्वरूप का अभ्यास करो, भेदभावना का अभ्यास करो, समग्र परवस्तुवों से और औपाधिक भावों से न्यारे निज ज्ञानतत्त्व की आराधना करो अन्यथा संकटों से छूटने का मार्ग न मिलेगा ।

कर्मों का बैर—इन कर्मों ने तो दांत भी तोड़ डाले वृद्धावस्था में । कोई किसी के दांत तोड़ डाले तो कितनी कलह हो जाती है और ये दांत अपने आप जो गिरते हैं इनको किसने तोड़ा? कर्मोदय ने । तो ये कर्मोदय दांत भी तोड़ देते, आंखें भी फोड़ देते । अनेक कष्ट आये । बार-बार कष्ट भोगे, फिर भी उन कर्मों के नाश का उद्यम नहीं करना चाहते । ये कर्म जो दु:खों के निमित्तभूत हैं ये परपदार्थ हैं, इनका हम कुछ परिणमन नहीं कर पाते । अरे अपने परिणाम को हम निर्मल बनाएँ, भावकर्म, रागादिकभाव इन्हें न होने दें तो ये कर्म तो अपने आप खिर जायेंगे । उनके नाश का क्या उद्यम करना? वृद्धावस्था में इन कर्मों के निमित से तेरा बड़ा अपमान हुआ । दांत तोड़े, आंखें फोड़ी, कान बहिरे कर डालें, मुंह टेढ़ा कर दें, शिथिल हो गए, अरे ऐसा कोई पुरुष करे तो लोग उसे बड़ा अन्यायी कहते हैं, और इन कर्मों के उदय से ये सब होते जा रहे हैं । उन कर्मों के विनाश का चिन्तन नहीं करते ।

आत्मोपलम्भ का अभ्यास—भैया ! एक बार तो अपनी चीज छू लो । अपनी चीज क्या? आत्मा का ज्ञानस्वभाव ज्ञानप्रकाश निजस्वरूप और उसे छूना कैसे होगा? इस उपयोग से ज्ञान से अपने ज्ञान को इस ज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्व में लगावो । वहाँ जो अनुभव जगेगा वही अनुभव शरण है । इन अनन्त जीवों में से एक दो जीवों को अपना सब कुछ परिचयी मान लेना, ये ही मेरे सब कुछ है, ऐसी जो एक भ्रमपूर्ण श्रद्धा बना रहा है यह इस आत्मा भगवान् को एक मुदी चोट की तरह निरन्तर कष्ट दे रहा है । अपने ज्ञानस्वभाव

का उपयोग करना और उस ज्ञानस्वभाव में ही उपयोग करना और उस ज्ञानस्वभाव में ही उपयोग को स्थिर बनाना, यह बात सुगम है, पर इसके लिए हमें चाहिए अहर्निश अभ्यास । कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि जितना समय हमारा धनार्जन में लगाया जा रहा हो अथवा जितना समय गृहस्थी की व्यवस्था में लगाना पड़ रहा हो, लगायें, पर उससे बचा हुआ शेष समय तो सत्संगति, धर्मचर्चा, ज्ञानाभ्यास आदि कार्य में लगायें । नगर में दो चार आदमी भी ऐसा करने लगें तो यह परम्परा बन जायेगी । उनके बाद फिर कोई लोग होंगे ।

हितप्रयोग में हित—काम करने को तो यही है आत्मदर्शन व आत्मरमण । केवल बातों से तो पेट नहीं भरता । इस संसार के संकटों से सदा के लिए छूटने की बात सोचो और काम कुछ न करना पड़े, यह नहीं हो सकता । एक बालक १०-१२ वर्ष का अपनी मां से कहने लगा, मां मुझे तरना सिखा दो । वह बालकों को तालाब में तैरता हुआ, किलोल करता हुआ देखता था, एक दो बार वह खुद पानी में घुस गया था, डूबते भी बचा था । बहुत से बालकों को डूबते मरते भी देखा था, पर उसके चित्त में यह उत्सुकता जगी कि मैं भी तैरना सीख लूँ और पानी में तैर कर खेला करूँ । सो वह बालक अपनी मां से बोला—मां मुझे तैरना सिखा दो । मां कहती है—बेटा ! सीख जावोगे, सिखा देंगे । हां सिखा तो दो, मगर पानी में मुझे, पैर न रखने पड़े । अब बतावो पानी में घुसे बिना तैरना कैसे सिखाया जा सकता है ।

प्रयोग बिना विद्या का अविकास—एक स्कूल में बच्चों को तैरने की शिक्षा दी जा रही थी, उनके कोर्स में था । सो अध्यापक ने किताबों से तैरने की खूब शिक्षा दी । इस तरह कूदना चाहिए, इस तरह लेट जाना चाहिए, ऐसे हाथ पैर फटकना चाहिए । खूब सिखा दी । ६ महीने का कोर्स था । अब इसके बाद मास्टर ने कहा कि अब सब लोगों की परीक्षा होगी । सब बच्चे नदी के किनारे गए । अब मास्टर उन बच्चों से कहता है कि हम सब एक दो तीन कहेंगे, सो तीन कहने के साथ ही साथ सब बच्चे नदी में कूद जायेंगे और अपनी तैरने की कला दिखायेंगे । बहुत अच्छी बात । मास्टर ने एक दो तीन कहा कि सभी बच्चे नदी में कूद गए । सभी बच्चे डूबने लगे, तब नाविक आया और उन बच्चों को उठा-उठाकर नाव में धरा । फिर नाविक ने मास्टर से कहा कि तुम बड़े बेवकूफ हो, इन बच्चों को यों ही नदी में पटक दिया । मास्टर कहता है तुम क्या जानते हो? हमने ६ महीने तक इन बच्चों को खूब ट्रेनिंग दी । हर बात सीख ली, कैसे कूदा जाता है, कैसे तैरा जाता है? भैया ! इस किताबी पढ़ाई से तैरने का काम नहीं बन सकता । अरे वह तो प्रयोगसाध्य चीज है, किताबसाध्य नहीं है ।

आत्मानुभव का प्रयोग—यह आत्मानुभव भी किताबी पढ़ाई से नहीं होता, वह तो प्रयोगसाध्य बात है । लगावो चित्त, अनुभव करो, हिम्मत बनावो, सबको पर जानकर उनकी उपेक्षा करो । अपने आपके इस ज्ञानस्वभावी प्रभु से नेह लगाने की धुनि बनावो तो यह बात मिलेगी । हम प्रयोग कुछ न करना चाहे तो यह सिद्धि नहीं हो सकती है । प्रयोग भी हमारा इस आत्मा की आराधना का तब बन सकता है जब कि उसकी एक धुनि बन जाये । २४ घंटे जिसकी जो धुनि होनी है उसकी ओर ही तो उसकी प्रवृत्ति बनेगी । अपनी-अपनी धुन देख लो । सब अपनी-अपनी धुनि भुना करते हैं । देख लो । जो जड़ पौद्गलिक वैभव परिजन

रूप रंग विषय कषायों में ही धुन बनाये रहते हैं उनको उसकी ही धुन है । वे सब विनश्वर है, असार हैं, उनसे कोई न शान्ति की सिद्धि नहीं है । धुन बने, लगन बने तो आत्मस्वरूप की आराधना की बने । उसमें लगने वालों की प्रवृत्ति ऐसी होगी कि बात करते हुए भी बात नहीं कर रहे हैं, खाते हुए भी नहीं खा रहे हैं । जिनके अध्यात्मधुन बनती है उनकें चित्त में वही बात बसी रहती है ।

प्रभुभक्ति की शरणरूपता—प्रभु की भक्ति करते हुए में प्रभु से भीख मांगने की जरूरत नहीं है कि हे प्रभो ! मुझे शरण मिले । जब तक लगन नहीं लगी है तब तक ही शरण मांगी जाती है । शरण का मांगना तब तक नहीं बन सकता जब तक प्रभु को यह न बनायें कि हममें लगी है लगन । लग तो जाये लगन, शरण होंगे प्रभु, पर अपने चित्त से पूछो तो सही कि प्रभु से लागी लगन कि बच्चों और घर से लागी लगन । यहाँ भगवान् शरण देने न आयेंगे । भगवान् के प्रतिनिधि आप ही स्वयं है । सब काम आप ही कर लेंगे भगवान के नाम पर । जो धुन होगी, जैसी लगन होगी तैसा यहाँ बीतेगा, गुजरेगा । ये सब चीजें उदारता बिना, त्याग बिना सिद्ध नहीं हो सकतीं । वैभव परिवार बच्चों में ही यदि लगन लगी है तो लगाये रहो, धुन में बसाये रहो, अन्त बतावेगा, समय बतावेगा कि तुमने व्यर्थ समय खोया । जो जीवन व्यतीत हुआ है वह व्यर्थ ही गया । यह खुद मान जायेगा आपमें ।

विषयखाज—जैसे जिसको खाज हुई है, दाद हुई है, खुजाते समय तो उसे आगे पीछे का भी ध्यान नहीं रहता, वह उसमें बड़ा चैन मानता है । जिनके दाद, खाज होती है उनके गले में खूब बात उतर रही होगी । जैसे योगी लोग आत्मध्यान करके खूब प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही ददैला भी खुजलाते समय सब दुनिया को भूल जाता है, हाथ पैर को टन्नाकर सुख लूटा करता है । ठीक है, परन्तु उसके बाद यह रोग और बढ़ गया । उस रोग को मिटाने की फिर पड़ती है, ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय के विषय और मन का विषय यह खाज है । इस खाज को खुजाते समय आगे पीछे का कुछ ध्यान नहीं रहता । उस समय तो यहाँ सब कुछ सार नजर आता है । अब समय मरने का आता है तब मालूम होता है कि हमारा अतीत बिगाड़ का समय कितना खोटा गुजरा । यों ही बनी बात का मूल्य बिगड़े समय से पूछो । पछतावा होता है कि यों न व्यतीत होता तो अच्छा था ।

बने और बिगड़े का माप—एक अभिमन्यु नाटक में आया है कि जब अभिमन्यु गुजर गया तो उसकी मां अपने मरे हुए बच्चों को देखने आयी । तो कुछ लोगों ने उस मां को रोका कि कहीं उस मरे हुए लडके को देखकर यहाँ मां भी अपने प्राण न दे दे । उस समय मां कहती हैं—''करुणा निधान करुणा, करुणा भरे से पूछो । ज्वाला वियोगा का दुःख, छाती तरे से पूछो ।। क्या मूल्य है बने का, बिगड़े समझ से पूछो । बच्चे का प्यार उसकी मां के हृदय से ओर ।।'' उस समय उसको हितकारी मानों । श्रीकृष्ण ने ही उसे रोका था । करुणा की बात भरे ही बता सकते हैं, वियोग का दुःख नियोगी ही बता सकते हैं । बने समय का कितना बड़ा महत्त्व है यह बिगडे समय से ही अन्दाज किया जा सकता है । अभी तो सब बिगड़ा जा रहा हैं । विषयों की खाज के सुख लूटे जा रहें हैं । अभी अच्छी स्थिति का मूल्य कुछ नहीं जँच रहा है । निर्विकार

ज्ञानानुभव में विविक्त निज अन्तस्तत्त्व का आश्रय हो, उसकी जो स्थिति है उसका महत्त्व समझ में नहीं आ रहा है, क्योंकि यह अभी विकल्पों का समय चल रहा हैं । अब बनने का समय आयेगा तब बिगाड़ का खोटापन भी समझ में आयेगा और बने का महत्त्व भी बिगड़े समय की याद करके समझ में आयेगा, अन्तरंग निमित्त कारण । इन कर्मों के उदय से निमित्त से कैसी-कैसी परिस्थितियां हुई है, बड़े-बड़े अपमान हुए हैं, फिर भी इन कर्मों के ही आधीन चलने की चाह रखते हैं । हे आत्मन् ! अपने अन्तःपुरुषार्थ को प्रबल बनावो और अपना पौरुष स्वरूप संभालकर कर्मों के अभाव से निराकुल रहने का अब संकल्प करो ।

श्लोक (९१)

अश्रोत्रीव तिरस्कृतापरतिरस्कारश्रूतीनां श्रुतिः
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामि वान्ध्यं गतम् ।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते,
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेपास्से जराजर्जरे ।। ९१ ।।

वृद्धावस्था में बधिरता—वृद्धावस्था में इस मनुष्य की क्या हालत हो जाती है और उस हालत में भी यह अपनी रक्षा का कुछ विचार नहीं लाता है । इस मर्म का इस छन्द में वर्णन किया है । वृद्धावस्था में कान बहिरे हो जाते हैं । बहिरे क्या हुए वृद्धावस्था एक ऐसी असमर्थ दशा है कि इस अवस्था वाले को जो चाहे गाली दे, अपमान करे, तिरस्कार करे, ये सब बातें चलती है । अपमान, निन्दा, तिरस्कार के वचन सुनकर इस बूढ़े पुरुष के कान थक गए । अब ये कान अपमान और निन्दा के वचन नहीं सुन सकते हैं । इसलिए ये थक करके शिथिल हो गए हैं । कवि अलंकार में कह रहा है । वैसे तो जो हित की बात नहीं सुन सकते, हित की बात को हृदय में धारण नहीं कर सकते, वे सब बहिरे हैं ।

बहरों की गोष्ठी—एक कथानक है कि एक मुसाफिर किसी गांव को जा रहा था । रास्ते में बहुतसी भेड़ बकरियां चराने वाला गड़रिया इस मुसाफिर को देखकर सोचने लगा कि मैं इस मुसाफिर से कहूं कि तू दो घन्टे के लिए हमारी बकरियों को रखे रहना, हम घर जाकर भोजन कर आयें और आकर संभाल लेंगे । भाग्य की बात है कि वह मुसाफिर भी बहिरा था और वह गड़रिया भी बहिरा था । सो गड़रिया मुसाफिर से बोलता है इशारा करके कि भाई इन बकरियों को रखाये रहना २ घंटे के लिए रोटी खा आयें, हम फिर आकर संभाल लेंगे । वह मुसाफिर खड़ा हो गया । गड़रिया भोजन करने चला गया । भोजन करके जब आया तो गड़रिये ने सोचा कि इसने दो घन्टे मेहनत की तो इसे कोई बकरी इनाम में देना चाहिए । सोचा कि कौनसी बकरी दें? कोई ज्यादा काम तो किया नहीं इसने दो ही घन्टे तो काम किया । बढ़िया बकरी देने लायक परिश्रम तो किया नहीं, इसे टांग टूटी वाली बकरी दे देना चाहिए । देने लगा वह अपनी लंगड़ी बकरी तो उस मुसाफिर ने सोचा कि यह कह रहा है कि तुमने मेरी बकरी की टांग तोड़ दी । सो गुस्सा में आकर कहता है कि हमने तो दो घंटे तक इतना श्रम किया, फिर भी व्यर्थ का इल्जाम लगाते हो कि बकरी की

टांग तोड़ दी । गड़रिया ने समझा कि यह कहता है कि हम लंगड़ी बकरी न लेंगे, हम तो अच्छी लेंगे । सो कहता है गड़रिया कि तुमने थोड़ी ही देर तो सेवा की, अच्छी बकरी तुम्हें कैसे दे दें? दोनों परस्पर में लड़ने लगे । इशारे से यह तय हुआ कि चलो अपन तीसरे व्यक्ति से इसका न्याय करा लें । अब वे तीसरा व्यक्ति ढूँढने लगे । रास्ते में सामने से एक मुसाफिर अपने छोटे घोड़े के बच्चे पर सवार हुआ चला आ रहा था । इन दोनों ने अपना झगड़ा उसके सामने रक्खा । भाग्य की बात कि वह पुरुष भी बहिरा था । उसने समझा कि ये कह रहे हैं कि यह घोड़ा चोरी का है । सो कहता है कि यह घोड़ा तो हमारे घर की घोड़ी का पैदा हुआ है, क्यों बेकार में घोड़े की चोरी का इल्जाम लगाते हो, भगवान् कसम हमने घोड़ा नहीं चुराया । अब उन तीनों में लड़ाई होने लगी । तीनों में इशारे से यह तय हुआ कि चलो अपने किसी चौथे के पास चलकर न्याय करा लें । चले चौथे व्यक्ति को ढूंढ़ने के लिए । एक गांव में एक पटेल (गांव का मुखिया) मिला । उस दिन उस पटेल से उसकी औरत की लड़ाई हो रही थी । लड़ाई हो ही रही थी कि उन तीनों ने पहुंचकर अपनी-अपनी बात उसके सामने रक्खी । सुयोग से वह पटेल भी बहिरा था । सो मुसाफिर तो कहे कि यह गड़रिया हमें बकरी की टांग तोड़ने का व्यर्थ में इल्जाम लगाता है, गड़रिया कहे कि इसने दो ही घंटे तो हमारी भेड़ बकरी ताकी, कैसे हम इसे अच्छी बकरी दे दें, घुड़सवार कहे कि यह घोड़ा तो हमारे घर की घोड़ी से पैदा हुआ है, ये व्यर्थ में क्यों इल्जाम लगाते हैं कि यह घोड़ा चोरी का है । पटेल ने समझा कि हमारे घर लड़ाई हुई है, सो ये सब लोग समझाने आये हैं । सो पटेल बोला कि तुम सब चले जावो यहां से, तुम कौन समझाने वाले होते हो, यह तो हमारी घरेलू लड़ाई है । तो जैसे जहाँ बहिरे-बहिरे ही बसे हों, वहाँ कैसे व्यवस्था बने ? क्या न्याय हो, ऐसे ही इस जगत् में जो हित की बात सुन न सके, हृदय में समझ न सके, मध्यमार्ग की बात जिसके न रचे उसे तो बहिरा ही कहना होगा । जहाँ बहिरे-बहिरे ही बस रहे हों वहाँ सभी अपनी-अपनी गा रहे हैं । हित की बात कोई नहीं सुन सकता है ।

वृद्धावस्था में बधिरता व कम्पन का अलंकारिक कारण—वृद्धावस्था की बात कही जा रही है कि इस वृद्धावस्था में कानों ने काम करना बंद कर दिया । तिरस्कार, अपमान, निन्दा गाली आदिक दुर्वचनों को सुन सुनकर कान थक गए । सो जो थक जाता है वह काम बंद कर देता है । वृद्धावस्था में इन कणों की शक्ति घट जाती है । और इन आंखों ने भी अपना काम बंद कर दिया । इसकी अब दयनीय दशा हो गयी, अंध हो गया । और देखो ये बूढ़े कप क्यों रहे हैं, इनके कम्पन क्यों हो रहा है? कवि से पूछो, वे सबका राज जानते हैं ना । कवि जवाब देता है कि अब इस वृद्ध के सामने काल आ गया है, सो उसके डर के मारे कांप रहा है । अर्थ उसका यह लगाना है कि वृद्धावस्था के बाद चौथी अवस्था और क्या आयेगी ? मरण वृद्धावस्था में थर-थर कांपने लगता है, शरीर में बल नहीं रहता है । ऐसी तो इसकी स्थिति है । वृद्धावस्था में सारे शरीर के अंग जीर्ण हो गए । जैसे अग्नि लग जाने पर घर की जो दशा हो जाती है, ऐसी ही दशा इस शरीर की हो जाती है । फिर भी तू हे वृद्ध प्राणी, है आत्मन् ! क्यों व्यर्थ की चिंताएँ लाद रहा है? इन चिन्तावों से कुछ भी तो हित नहीं होने का है । अहो, आशा जीर्ण नहीं हुई, किन्तु खुद ही जीर्ण हो गए ।

ममत्व का संकट—भैया ! जितने संकट हैं वे सब अपने से भिन्न परपदार्थ में ममत्व रखने के कारण है । कोई पुरुष धन में ममत्व रखता है तो उसके संकट आता है । कोई पुरुष शरीर में ममत्व रखता है उसके कारण संकट आता है । संकट भी क्या, विकल्प, कल्पनाजाल । इन संकटों से छूटने का उपाय भी तब ही मिलेगा जब सर्व से भिन्न ज्ञानस्वरूप अपने आत्मतत्त्व को निहारा जाये । जब भी आनन्द मिलेगा इस ही उपाय से मिलेगा । जिनको भी आनन्द मिला है उन्हें इस उपाय से ही मिला है । बूढ़े पुरुष अपनी कमर झुकाकर चला करते हैं । झुक ही जाती है कमर । और किन्हीं किन्हीं की कमर तो इतनी विशेष झुक जाती है कि घुटने और सिर में मुश्किल से हाथ भर का अन्तर रहता होगा । ये बूढ़े अपनी कमर झुका कर क्यों चलते हैं? किसी कवि से पूछो । कवि बताते हैं कि ये वृद्ध पुरुष नीचे झुककर अपनी जवानी ढूँढ़ रहे हैं । उनकी जवानी कहीं गिर गयी हैं, इसलिए वे अपनी जवानी ढूँढने के लिए झुककर चलते हैं । कहीं जमीन पर गिर गई हो, मिल जाये, यह तो कवि की बात है । वृद्धावस्था में यह स्थिति हो जाती है, यह कुछ बूढ़ों को सताने की बात नहीं कही जा रही है । बात यह दिखायी जा रही है कि बचपन में लोग अनेक विकल्प कर करके तृष्णा आशाजाल गूँथ-गूथकर धन संचय की धुन और स्वप्न बना बनाकर ऐसे बूढ़े हो जाते हैं, फिर भी यह आशा जीर्ण नहीं होती । यह सब व्यर्थ का रोना है । एक आत्मस्वरूप की भूल की, उसके फल में यह सब रोना रोना पड़ता है ।

ज्ञानभावना का महत्त्व—किसी भी क्षण जितनी देर आकाश में बिजली चमकती है, एक आध सेकेण्ड को भी उतनी ही देर अपने आपमें बसा हुआ यह ज्ञान-विकास इस उपयोग की, नजर में आ जाये, इतने ही क्षणों में इस जीव को मोक्ष प्राप्त होने का फैसला हो जाता है । जिसने एक क्षण भी अपने आपमें बसे हुए ज्ञानस्वरूप का अनुभव कर लिया उसका जीवन सफल है । एक क्षण भी अपने आत्मा का यह एकत्व सहज ज्ञानप्रकाश नजर में आ जाये तो अनन्त काल के लिए सदा आनन्दमग्न रहने का निर्णय हो जाता है । भावना के आधीन ही संसार में रुलने का काम मिल जाता है और सदा के लिए संकटों से छूटकर शुद्ध सहज आनन्द में मग्न होने का काम कर लिया जाता है । अब जैसी भावना, जैसा मन करना हो तैसी भावना बना लेनी चाहिए ।

अभीष्ट की भावनासाध्यता—भैया ! किसी के सामने एक ओर खली रख दी जाये और एक ओर रत्न रख दिया जाये और उससे कहा जाये कि जो तू मांगता हो सो मांग ले या जो तू उठाना चाहता हो सो उठा ले और वह उठा ले खल का टुकड़ा तो उसे तो लोग पागल कहेंगे । यों ही हम आपकी भावना के आधीन ही दो बातें हैं, संसार में अनन्त काल के लिए रुलना और अनन्तकाल के लिए संसार से छूटकर आनन्दमय रहना—ये दोनों बातें हम आपको केवल भावना से मिलती है । उसमें किसी परद्रव्य का लगाव नहीं लगाया जाता है । एक निर्विकल्प निश्चल शुद्ध निज ज्ञानस्वभाव की रुचि जगे, यही मात्र मैं हूँ, अन्य सब झूठ है, ये संसार में रुलाने के कारण है, ऐसी भावना बने, ज्ञान भावना जगे तो इसके परिणाम से मुक्ति मिलेगी । क्या-क्या मुक्ति के लिए करना है? केवल एक भाव । केवल भीतर में भावना बनाय उसके फल में मोक्ष मिल

जायेगा । और देखिये जहाँ यह भाव बन जाये, यह धर मेरा है, वैभव मेरा है, इन लोगों के कुछ भला कह देने से मेरी इज्जत बन जायेगी, मेरा बड़प्पन हो जायेगा । कर क्या रहा है यह? भीतर अपने ही प्रदेशों में रहते हुए एक भाव बना रहा है । भावों के अतिरिक्त यह अज्ञानी अन्य कुछ नहीं कर रहा है । अज्ञान भावना के फल में यह संसार में जन्म मरण का चक्कर लगाकर रुलता फिर रहा है । कीट पतंगा बन रहा है । देख लो—भावना के ही फल में अनन्त दुःख मिलता है और भावना के ही फल में अनन्त आनन्द मिलता है । इतने पर भी कोई भावना दुःख प्राप्त करने की ही बनाए तो अब उस पर क्या किया जाये कोई स्वयं ही मरना चाह रहा है, बरबाद होना चाह रहा है तो उसे कौन रोके ?

शुद्ध भावना में निर्भयता—सारे विकास विकार नटखट सब भावना के आधीन है, इस भाव का मर्म जिसने पहिचान लिया, जिसने केवल जिन आत्मस्वरूप से रिश्ता माना, उसे तो मरने के समय में भी भय नहीं रहता । जिसने मरण समय में अपना परद्रव्यों से कुछ सम्बन्ध नहीं माना है उसे मरने का क्या डर? जिसने परद्रव्यों में आत्मीयता की श्रद्धा नहीं बसायी है उसे मौत से क्या डर? उसे तो यह विश्वास है कि जो मेरा वैभव है, वह त्रिकाल भी मेरे से छूट नहीं सकता । और जो मेरा नहीं है वह त्रिकाल भी मुझमें आ नहीं सकता । ज्ञानस्वरूप की उपासना में ये सब चमत्कार बसे हुए हैं । चमत्कार क्या? आनन्द मिल जाये । इससे भी बढ़कर कुछ चमत्कार है क्या दुनिया में ? ऐसा विशुद्ध आनन्द मिले जिसके बाद कभी दुःख आये ही नहीं—ऐसा आनन्द पाने का उपाय बन जाये तो इससे बढ़कर और चमत्कार क्या अच्छा है ? यह चीज तब होगी जब अपने को अकिञ्चन् माना जाये । मेरा जगत् में कहीं कुछ नहीं है । जिन्हें हम इष्ट मित्र कह रहे हैं, परिवारजन कह रहे हैं उनके ही कारण हमें विपदा आ जाये, मरण आ जाये, इतना तक भी हो जाता है ।

निर्मोह में निर्भयता—जिनको मोह ममता नहीं है ज्ञानस्वरूप आनन्दघन अपने सहज स्वभाव से ही जिनकी प्रीति लगी है उतने निजस्वरूपमात्र में जो निज के सत्त्व का अनुभवन कर रहे हैं—ऐसे ज्ञानी संतों को न इस लोक का भय है, न परलोक का भय है, न वेदना का, न मरण का, न अरक्षा का, न किसी आकस्मिक घटना का । दुःख उन्हें होता है जिनका दिल फँसा है कहीं औरों की ओर, निज गेह से छूटकर अन्यत्र भागने की जिनके नौबत आ गयी । बुद्धिमानी उस सद्गृहस्थ की है जो अपना मरण समय सुधार ले । मरण के समय में रागद्वेष मोह न जगे, समता बनी रहे, धैर्य बना रहे ।

मारणान्तिक कष्ट—देखो भैया ! प्रायः कष्ट भी सब इकट्ठा होकर मरण के समय में ही आता है । देखते भी है कि मरण के समय में कितनी वेदना हो जाती है? अंग शिथिल हो जाते हैं, आत्मा खिंच रहा है, गले के नीचे-पानी नहीं उतरता, प्यास तेज लग रही है, किसी को कुछ बता नहीं सकते, करवट बदलते हैं तो बदल नहीं सकते । और तो कहानी क्या कहें, यों कह लो कि सारे कष्ट मिलजुलकर वहाँ ही आते हैं जहां इन कष्टों की दाल गल सके । जहाँ कुछ देह में बल है वहाँ कष्टों की दाल पूरी नहीं गलती । इसलिए ये सारे कष्ट खिंच-खिंचकर वृद्ध के ही पास पहुंचते हैं । ऐसी स्थिति में भी ज्ञान में बड़ा बल है । थोड़ी ज्ञानशक्ति

लगाने से ये सब कष्ट भाग जाते हैं । चित्त में मात्र इतना ही बसाना है कि मैं तो ज्ञानपुंज मात्र हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ, लो सारे कष्ट भाग जाते हैं । हिम्मत करने वाले हिम्मत करते हैं । जैसे किसी बुढ़िया के घर में दो चार चोर घुस आये तो वह बुढ़िया जरासा खांस भर दे कि सारे चोर वापिस भागने की सोचते हैं और भाग जाते हैं । तो जैसे एक खांसी मात्र से चोर खिसक जाते हैं चोरों की बात कह रहे हैं डाकुवों की नहीं, ऐसे ही इस ज्ञान की क्षणिक झलक से ये सारें संकट भाग जाते हैं ।

कष्टनिवारण का मौलिक उपाय—भैया ! कष्टों को जीतना है ना, तो बाहरी उपचार करके कहां तक जीतोगे? जैसे मेढकों का तोलना बड़ा कठिन है । कोई जिन्दे मेढक एक किलो तौलकर दिखा तो दे । पलड़े पर दो मेढक रक्खे जायेंगे तो दो उछल जायेंगे । तो जैसे जिन्दा मेढकों का तौलना कठिन है ऐसे ही बाहरी उपचार कर करके कष्टों का मिटाना कठिन है । कहां तक बाहरी उपचार करके कष्टों को मिटावोगे? कभी पुण्य अनुकूल हो तो कहो कष्ट मिटाने का कोई रास्ता बन आये । कष्टों के मिटाने का उपाय एक ज्ञानस्वरूप का अनुभव है । मैं ज्ञानमात्र हूँ । यहाँ केवल ज्ञानविकास के अन्य कुछ नहीं है, यह दृष्टि बने, समता जगे, समाधिमरण बने तो जैनधर्म का पाना और तप व्रत संयम आदि का करना सब सफल हो जायेगा । ऐसी दृष्टि बनावो कि मेरा समाधि मरण हो जाये और उसके योग्य अभी से ज्ञानसाधन का विशेष उपाय बनावो ।

श्लोक (९२)

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः ।
त्वं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तों गुणेप्वरतः ।। ९२ ।।

लोकरीति व अज्ञानरीति—लोक की ऐसी रीति है कि जिन पदार्थों में अधिक परिचय हो जाता है उनमें इस मनुष्य की अवज्ञा हो जाती है और नवीन वस्तु का सम्बन्ध हो तो उसमें प्रीति हो जाती है । ऐसी लोकोक्ति है अथवा लोकरीति है । प्रायः ऐसा देखा भी जाता है कि जिनके संग में अधिक रहना होता है उनमें अवज्ञा हो जाती है । प्रीति, उत्सुकता, उत्साह फिर नहीं रहता है, लेकिन हे आत्मन् ! यहाँ तुम उस लोकोक्ति को भी झूठ बना रहे हो । यह शरीर अनादि काल से तुम्हें मिलता चला आ रहा है, इससे ज्यादा और परिचय की बात क्या कही जाये ? ये राग द्वेष विषय कषाय के परिणाम अनादिकाल से तेरे साथ चले आ रहे हैं, कितना चिरकाल का परिचय है, इसमें तुझे अवज्ञा क्यों नहीं होती है? इन रागादिक भावों का इतना अनादिकालीन परिचय है—इन विषयकषाय भावों से, इनसे तुझे ग्लानि नही होती । और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, जो आत्मा का कल्याण करते हैं इनको अभी तक कभी नहीं प्राप्त किया गया । ऐसे गुणों में तू क्यों रति नहीं करता है ? तू तो उल्टी-उल्टी चाल चल रहा है ।

स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर—इस जीव के साथ दो प्रकार के शरीर लगे हुए हैं—एक सूक्ष्मशरीर, दूसरा स्थूलशरीर । सूक्ष्मशरीर तो तैजस और कार्माण है, स्थूलशरीर यह औदारिक हम आप लोगों के जो लगा है वह है । इसके अतिरिक्त एक वैक्रयिक शरीर भी होता है । आहारक शरीर ऋद्धिधारी मुनियों के प्रकट होता

है । इन ५ प्रकार के शरीरों में तैजस और कार्माण ये दो शरीर जो कि सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं, इस जीव के साथ अनन्तकाल से अब तक अनवच्छिन्नधारा से जिसका कभी एक सेकेण्ड को भी वियोग नहीं हुआ है इस तरह से चले आ रहे हैं और यह स्थूलशरीर जो मनुष्य के ढांचे में हैं, मरकर कल कोई और शरीर बन गया तो स्थूल शरीर का तो परिवर्तन हो रहा है । आज मनुष्य का है, कल हाथी का है, फिर कल चींटी का है, विचित्र-विचित्र परिवर्तन होते हैं, किन्तु तैजस और कार्माण शरीर इस जीव के साथ निरन्तर लगा आया है । इन दोनों शरीरों का कभी वियोग हो जाये तो फिर यह शरीर सदा के लिए विमुक्त हो जायेगा ।

द्रव्यकर्म व भावकर्म में भी मोही के अवज्ञा का अभाव—भैया ! कर्मों से भी तो अब तक विच्छेदरहित संबंध बना आया है । उन कर्मों में तुझे अप्रीति नहीं होती । भावकर्म, क्रोध, मान, माया और लोभ आदिक भाव भी अदलते बदलते हैं, किन्तु कोई न कोई विभाव सदा रहता चला आया है । कितने दिनों का परिचय इन रागादिक भावों का है, किन्तु तुझे इनमें अप्रीति नहीं होती है ।

यह भी प्रसिद्धि है कि जिसका बहुत-बहुत सेवन हुआ हो, उसी विषय से अनादर हो जाता है और जो कोई वस्तु अपूर्व प्राप्त हो, उसमें ही प्रीति हो जाए । तेरे रागादिकभावों का सेवन अनादिकाल से हुआ । यही तो रागादिक भाव तेरे क्लेश बढ़ा रहे हैं और रत्नत्रय का लाभ नहीं होता है । रत्नत्रय का लाभ एक अपूर्वलाभ है, इसमें तेरी प्रीति नहीं होती है । बड़े आश्चर्य की बात है कि तू बड़े लोकविधानों को भी उल्टा कर देने में तत्पर हो रहा है ।

रागादिकों की मायारूपता पर एक दृष्टान्त—ये रागादिकभाव परमार्थभाव नहीं हैं, ये किसी के बनकर नहीं रह सकते, इनका कोई निश्चित् स्थान नहीं है । जैसे हाथ आदिक किसी वस्तु की कहीं छाया पड़ती हो तो वह छाया न तो हाथ की है और न किसी वस्तु की है, क्योंकि यदि वस्तु की छाया होती तो सदा उसमें बनकर रहती । हाथ की छाया होती तो हाथ में ही रहती, हाथ से बाहर न होती । तो परमार्थ से छाया किसी को नहीं कह सकते हैं । धूप में हम किसी मार्ग में चलते हैं तो इस शरीर की छाया पड़ती है । तो अब आप बताओ कि वह छाया किसकी है ? वह छाया इस शरीर की नहीं है । क्या, वह छाया इस पृथ्वी की है? यदि पृथ्वी की छाया होती तो जब चाहे पृथ्वी में रहती । आप पृथ्वी पर खड़े हों या न खड़े हों, छाया सदा पृथ्वी पर रहनी चाहिए । जैसे आपके खड़े रहने से या न खड़े रहने से पृथ्वी का जैसा रूप है, वैसा ही रहेगा अर्थात् आपके खड़े रहने से पृथ्वी के रूप में कोई भी अन्तर न आएगा । और भी जो विशेषताएं पृथ्वी में है, आपके रहने या न रहने से सदा रहेगी ।

क्या इस तरह छाया पृथ्वी की बनकर हुई है? वह छाया परमार्थ से पृथ्वी की नहीं है, तो क्या आपकी है, आपका रूप है, वह आप में समायी हुई है, आपसे बाहर है क्या ? आपका आकार प्रकार जो कुछ हैं, वह आपमें ही समाया है, आपसे बाहर नहीं है । हाथ की छाया हाथ में ही समायी हो, आपमें ही समायी हो, यह भी नहीं है । तब छाया को किसकी बतायी जाए? वह छाया तो मायारूप है । इसी प्रकार ये रागद्वेष और कषाय, जिनके कारण इतने हैरान हो रहे है—ये सब मायारूप हैं । वास्तविक परमार्थभूत कुछ नहीं है ।

रागादिकों की मायारूपता—अच्छा यह बताओ कि ये रागादिक भाव किसके हैं? परमार्थ से इनका कौन अधिकारी है यदि यह बताओगे कि ये परमार्थ से आत्मा के हैं तो फिर रागादिक भाव आत्मा में सदा ही रहने चाहिएं । जैसे कि ज्ञान, दर्शन और आनन्द आदिक गुण आत्मा के हैं, यों ये रागादिक भाव आत्मा में सदा तो रहते नहीं है । प्रथम तो ये रागादिकभाव अदल-बदलकर बने रहते हैं और कभी बिल्कुल भी मिट सकते हैं । अच्छा तो क्या ये रागादिक भाव कर्मों के हैं ? क्योंकि कर्मों के उदय के निमित्त से मिले हैं ना? तो इन्हें कर्मों के भी नहीं कह सकते हैं ? कर्मों के होते तो ये रागादिक भाव कर्मों में ही समाये रहते, कर्मों से बाहर फिर ये क्यों हुए? जीव में, आत्मा में और इस आधार में क्यों आ गए? ये रागादिक भाव कर्मों के भी नहीं हैं । ये सब रागादिक भाव मायारूप हैं । हैरानी का कारण माया है, परमार्थस्वरूप नहीं है । माया के जड़ नहीं, मूल नहीं—ऐसे निराधार माया के कारण हैरानी बड़ी होती है । जो अपना मूल है, वह परमार्थस्वरूप है, उसके कारण हैरानी नहीं होती ।

भूल से हैरानी—भैया ! भूल से हैरानी है । आत्मा में हैरानी बसी हुई नहीं है, किन्तु उस भूल को कोई छोड़ना ही नहीं चाहता है । तो उसकी कौन चिकित्सा करे? जिस क्षण भूल त्याग दे, उसी क्षण आत्मा में आनन्द प्रकट हों जाएगा । कोई भूल को ही अपनी होशियारी माने तो भूल को त्याग कैसे देगा?

एक ग्राम के प्रारम्भ में एक बढ़ई का घर था । वह बड़ा मस्खरा था । जो भी मुसाफिर उधर से निकले, उसके पूछने पर वह गलत रास्ता बता देता था । रास्ता हो किसी दिशा को और बता दे किसी दशा को । साथ ही वह यह विश्वास भी दिला देता था कि गांव के सभी लोग मस्खरे हैं, उनके कहने में न आना, नहीं तो तुम्हें फिर लौटकर आना पड़ेगा । अब एक मुसाफिर वहाँ से निकला और उसने उससे किसी गांव का रास्ता पूछा । उसने गांव को दक्षिण में बता दिया, किन्तु था वह पूरब में । वह दक्षिण की ओर चला । गांव क भीतर किसी दूसरे से उस गांव का रास्ता पूछा तो उसने पूरब को बताया । वह समझ गया कि यह सच है कि यहाँ के लोग मस्खरे हैं । इसी तरह चार छः लोगों से पूछा तो सभी ने पूरब में बताया । उसे पूरा शक हो गया कि वह बढ़ई ठीक कहता था कि यहां के सभी लोग मस्खरे हैं । अब तो वह बेचारा दक्षिण में चलकर खूब भटककर एक गांव में पहुंचा, वहाँ के लोगों से पूछा तो वहाँ के लोगों ने बताया कि तुम रास्ता भूल गए, पहिले यहाँ से उत्तर को जावो, फिर पूरब को जाना ।

गांव के लोगों ने कहा कि एक बढ़ई ने तुमको यह रास्ता बताया होगा । बेचारा राहगीर उसी गांव लौट आया । फिर पूरब के रास्ते से चलकर जिस गांव को जाना था, वहाँ पहुंचा । ऐसे ही हम भूल करते हैं और उस भूल को हम होशियारी मानते हैं ।

भूल को होशियारी मानने का भ्रम—परिजनों में हम मोह करते हैं और उस मोह को करते हुए हम अपने को बड़ा विवेकी समझते हैं । हम बड़ा अच्छा घर बसाना जानते हैं, व्यवस्था करना जानते और कमाना भी तो जानते हैं । इसमें आप होशियारी समझते हैं, किन्तु यह भूल करते हैं और उस भूले को ही मानते हैं । तो बताओ कि उस भूल से निवृत्ति कैसे हो सकती है ? हे आत्मन् ! देखो कि जिन वस्तुओं से अत्यन्त

अधिक परिचय हो जाता है, उन वस्तुओं में अवज्ञा हो जाया करती है । तुझे इन रागादिक भावों से व इस शरीर से परिचय चिरकाल से चला आ रहा है, तुझे इसमें कुचाल भी नहीं मालूम होता है और तेरा अपूर्व कल्याण करने वाले जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, उनमें तुझे प्रीति, स्नेह और ममता भी पैदा नहीं होती है ।

आत्मपरिबोध—सम्यग्दर्शन नाम है सही देखने का । प्रत्येक पदार्थ को अपने आत्मस्वरूप से सही देखो, जानो, रुचि करो और विश्वास करो, वही तो सम्यग्दर्शन है । यह मैं आत्मा कैसा हूं? यह मैं आत्मा जो कुछ भी हूँ, वह कोई एक सत् है । कई वस्तुओं से मिलकर आत्मा नहीं है । कोई भी जो पदार्थ सत् है, वह अकेले ही सत् हुआ करता है । कई पदार्थ मिलकर सत् नहीं हुआ करते । यह मैं आत्मा एक स्वतंत्र सत् हूँ । इसमें क्या चीज भरी पड़ी है? कुछ देखो तो सही । देखो यह आंखों से तो दिखने में नहीं आता । आंखें खोलकर देखो तो बाहर की माया दिखती है, आंखें बन्द करके देखो तो न भीतर और न बाहर कहीं कुछ नहीं दिखता है । कैसे देखें उस अपने ही आत्मा को? अच्छा तो कानों से जरा सुनकर बताओ कि यह मैं आत्मा कैसा हूं? ये कान तो बाहर की सुना करते हैं, भीतर की कैसे सुनें? कभी तो पेट गुड़गुड़ करता है तो वह भी भीतर की चीज नहीं है, वह भी बाहर की चीज है । मेरी अपने आपके भीतर की बात तो कुछ सुनाई नहीं देती है । चाहे तो सूंघ-सूंघकर जान जावो कि मेरा आत्मा कैसा है? आत्मा सूंघने की भी वस्तु नहीं है, इसी प्रकार आत्मा रसना से चखकर जानने की वस्तु नहीं है, छूकर भी जानने की वस्तु नहीं है कि कैसा गर्म है, कैसा ठण्डा है ? कोई सा स्पर्श भी समझ में नहीं आता । यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है । इसका सही दर्शन एक अपूर्व दर्शन है । यह मैं ज्ञानमात्र हूँ और इसके अनुभवने का उपाय यह है कि अपना ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जानने में लगे, अन्य कुछ तत्त्व को न जाने तो अपने स्वरूप को जानने वाले ज्ञान के द्वारा अपने आपका दर्शन होता है ।

मोहसंकट—इस जीव पर संकट केवल मोह का है । कभी-कभी तो जब हैरान अधिक हो जाये तो समझ में आता है, पर वह वास्तविक समझ नहीं है, क्योंकि थोड़ी देर को कुछ न्यारे हुए और फिर उसी में जा धमकते हैं, वे तो समझते नहीं हैं । परेशानी के कारण कुछ ऐसा मालूम पड़ा है । क्लेश तो केवल मोह का है । अच्छा यह बतावो—घर के लोग पुत्र, स्त्री आपके लिए बड़े प्रिय हो रहे हैं, पर बाकी और सब लोगों ने क्या कसूर किया है जो उनमें प्रेम नहीं जग रहा है? बाकी लोगों को गैर मान लिया है और घर के दो चार प्राणियों को अपना मान लिया है, यह व्यर्थ का अन्तर है कि नहीं? अरे सभी को गैर मानों । हम हों, आप हों या घर के स्त्री, पुत्रादिक हो, सबको भिन्न स्वरूप वाला मानों । किसी से कहना नहीं है स्त्री आदिक से कि तुम भिन्न हो, असार हो, नरक निगोद के घर हो । अरे भीतर में इस बात को समझ लो कि ये सब भिन्न पदार्थ है इनमें उपयोग, बसाने से, इनमें आसक्ति रखने से आत्मा का कल्याण नहीं है । ये साथ तो निभायेंगे नहीं? इनकी दृष्टि रखकर केवल आकुलता ही भोगनी पड़ती है । सही बात हो तो मान लो, न सही हो तो न मानो ।

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य—जैनदर्शन इस बात को समझाने पर जोर देता है कि तुम हो, अन्य पदार्थ है, जो कुछ है, उन सबको जैसे हों तैसे मानों । इतनी ही तो बात है, यही हमारा धर्म है । कष्ट नहीं होता धर्मपालन में । व्यामोह में ही बड़ा कष्ट होता है । उस बड़े कष्ट को मिटाने के लिए छोटे कष्ट करने पड़ते हैं । लोग मानते हैं कि तप, व्रत, संयम आदि में बड़े कष्ट होते हैं, पर यह तो बतावो कि, पुत्र, स्त्री आदि के मोह में, धन सम्पदा के मोह में अपना नाम चारों ओर फैलाने के परिश्रम में, जनता को राजी रखने में कम कष्ट है क्या बड़ा कष्ट है । तप, व्रत, संयम, सत्संग, ज्ञानार्जन इनके करने में कष्ट न मानों । जिसकी बुद्धि व्यवस्थित हो गयी है उसके किसी प्रकार के कष्ट नहीं है । सम्यग्दर्शन कष्ट नहीं है, बल्कि कष्ट के मिटाने का उपाय है यह मैं आत्मा ज्ञानानन्दघन हूँ, इस ही रूप अपने आपको माना जाये, यही कष्ट मिटाने का उपाय है । सदा के लिए संकटों से छूटने का उपाय मात्र यही एक है, अन्य कोई उपाय ही नहीं है । ऐसा यह रत्नत्रय का लाभ एक अपूर्व लाभ है । उसको तो तू ग्रहण नहीं करना चाहता, प्रीति नहीं करना चाहता ओर ये सर्व कर्म रागादिक भाव जो चिरकाल से, अनादिकाल से लिपटे चले आये हैं उनमें ही प्रीति जगती है । हे आत्मन् ! संकटों में बहुत समय गुजर गया, अब तो कुछ विवेक करो । जो हितरूप तत्त्व है उसे ग्रहण करो । जो अहितरूप है उसका परित्याग करो । ये रागद्वेष मोह अहितरूप है, इनका त्याग करो और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र—ये रत्नत्रयरूप धर्म कल्याणरूप हैं, इनसे प्रीति करो ।

श्लोक (९३)

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि ,
नो संगतं दिनविकासि सरोजमित्थम् ।
नालोकितं मधुकरेण मृंत वृथैव,
प्राय: कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेक: ।। ९३ ।।

व्यसनी पुरुषों का अविवेक—पूर्व छन्द में यह बताया था कि जिन वस्तुवों में अधिक परिचय हो जाता है, लोक की यह रीति है कि उसमें अवज्ञा हो जाती है, उससे दिल हट जाता है, और कोई जैसे नवीन मिले तो उसमें प्रीति पैदा होती है, लेकिन यह मोही पुरुष इस लोक की रीति को भी उलट रहा है । कितना गाढ़ परिचय होता है शरीर और कर्मों का ? रागादिक भावों की उससे तो अवज्ञा नहीं होती और नवीन चीज अपूर्व है रत्नत्रय, उसमें प्रीति नहीं होती । इस वर्णन के बाद यह बता रहे हैं कि व्यसनी पुरुष को अपने कल्याण के सम्बन्ध में विवेक नहीं रहता है ।

व्यसनी पुरुषों के अविवेक पर एक दृष्टान्त—एक अन्योक्ति अलंकार से कह रहे हैं कि देखो—भंवरा कमल के गन्ध का लोभी बनकर, कमल पुष्प के अन्दर ही रहकर मरण कर जाता है । उस भंवरे से इतना तक भी नहीं देखा जाता कि जिस कमल में हम लोभी बनकर मर रहे हैं यह कमल इतना खतरनाक है कि इसको अत्यन्त कठोर जानकर हंसों ने भी नहीं खाया । हंस तालाब में रहता है और तालाब में कमल भी

होते हैं । हंस नाना मोतियों को तो चुन लेता है, मगर कमल को छूता तक भी नहीं है । जिसको हंसों ने नहीं भोगा, उसको यह भंवरा भोगने के लिए गया और मरा । और भी देखो—ये कमल जहाँ पैदा होते हैं वह जल भी इस कमल को छूता नहीं है । याने कमल ऐसी वस्तु है कि जिस जल में ये कमल पैदा होते हैं उस जल में रहने वाला हंस पक्षी इस कमल को छूता तक नहीं है । ऐसे इस कमल में इन भंवरों ने अविवेकी बनकर उनके अन्दर बसकर अपना मरण किया है । यह तो एक दृष्टान्त दिया जा रहा है । जैसे मंदरा कमल के गंध के लोभ में आकर यह विचार नहीं करता है ? इस कमल को हंस ने भी सेवन नहीं किया, यह कमल बड़ा कठोर है, खतरनाक है और देखो जिस जल में यह उत्पन्न हुआ, वह जल भी इस कमल से न्यारा रहा करता हे । ऐसे कठिन कमल से प्रीति करके भंवरा मर जाता है ।

आसक्ति में कष्टपरिहार का अनुपाय—यह कमल रात्रि में तो मुंद जाता है और जब दिन का समय होता है तो प्रफुल्लित रहता है । तो यह भंवरा अन्त में इस खतरनाक कमल के बीच आ गया । जैसे ही शाम हुई कि वह कमल बन्द हो गया । अब देखो इस भंवरे ने जिसमें इतनी शक्ति है कि मोटी काठ की लकड़ी को भी कुतर-कुतर कर एक ओर से दूसरी ओर पहुंच सकता है वह भंवरा भी गंध के लोभ में आकर ऐसे कोमल पत्तों वाले कमल पुष्पों में बन्द होकर मरण को प्राप्त हो जाता है । ऐसे ही जानों कि यह सरागी जीव विषयसामग्री में इसके सुख का लोभ लगा है, अत: उन विषयों का सेवन करता हुआ यह विचार नहीं करता । यह रागी मोही प्राणी यह विचार नहीं कर रहा है कि इन विषयों को महान् पुरुषों ने सेवन तक नहीं किया, इनको छोड़कर अपना अलग ही निवास किया । ये विषय ऐसे कठोर हैं, दु:खदायी हैं और फिर ये विषय इस निर्मल आत्मस्वभाव से न्यारे ही रहा करते हैं तथा जैसे कमल अंधेरी आते-आते बन्द हो जाते थे, ऐसे ही जब पापों की अंधेरी आती है तो ये विषयों के साधन भी विघट जाया करते हैं, लेकिन यह सरागी वृथा ही पापबन्ध करता है, विषयों के पीछे मरता है और नरकादिक गतियों में उत्पन्न हुआ करता है । ठीक बात है । जो व्यसनी पुरुष है उन्हें अपने हित का विचार नहीं हो सकता है, उन्हें तो आसक्ति ही है, अत: हित और विवेक के सम्बंध में कुछ दृष्टि ही नहीं है, लेकिन यह निर्णय है कि इन विषयसाधनों के भोगने का फल इसे खुद दु:ख भोगना पड़ता है ।

विषयनिर्विण्णता—इस छंद में विषयों के भोगने से अपने आपको न्यारा कर लेने के लिए कहा गया है । यदि अपने आपके आत्मा में शान्ति की भावना हो तो कुछ विवेक लायें, मन को सही बनाएँ, इन विषयों में आसक्त न हों, ऐसा होना भी है । यदि किसी में सम्यग्ज्ञान बन जाये तो फिर इन विषयों की ओर दृष्टि नहीं रहती, किन्तु जिसे अपने आत्मस्वरूप की नहीं जगी उसे ये विषय ही सर्वप्रकार से सुखदायी मालूम पड़ते हैं । अनुभव से भी देख लो—इतना जीवन गुजर गया विषयों को भोगते-भोगते, पर उन विषयों को भोगने के फल में आज कोई कल्याण की बात हाथ है क्या? इस जैनदर्शन के पाने का ऐसा सदुपयोग प्राप्त करें कि धर्मदृष्टि रहे, निर्विकार परिणाम रहे, परिग्रह में आसक्ति न जगे, अपने न्याय को खो न दें । आत्मदृष्टि के हम पात्र रह सकें—ऐसा अपना कोई पुरुषार्थ करना चाहिए । जहाँ शान्ति और आनन्द की समस्या खड़ी की

जाये, वहाँ कुछ भी विवेक से सोचा जाये तो यह निर्णय होगा कि विषयों के भोगने में जो सुख मिलता है वह पराधीन है, मलिन है और दुखों को उत्पन्न करने वाला है, किन्तु अपने आपके आत्मा को स्वभावत: जो एक झलक होगी अपने स्वरूप का भान होगा, उसमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह शुद्ध आनन्द है ।

आत्मभासना की अत्यावश्यकता—यद्यपि गृहस्थावस्था में इतनी पात्रता नहीं है कि हम आत्मकल्याण की बात को अधिकाधिक कर सकें, क्यों कि चिन्ताएँ बहुत है, अनेक आरम्भ परिग्रह कामकाज की संभाल रखना है । इस कारण गृहस्थावस्था में आत्मदृष्टि अधिक समय तक बनाये रखना कठिन है । रात दिन में किसी भी क्षण थोड़ी भी झलक आ जाये तो इस आत्मानुभव के स्मरण के प्रताप से बहुतसी आकुलताएँ दूर हो जाती है । देखो सुख शान्ति के लिए लोग अनेक प्रकार के पुरुषार्थ किया करते हैं । जहाँ इतना श्रम अन्य-अन्य कायों में किया करते हैं वहाँ एक यह भी काम करके देखा जाये आत्मानुभव का जो कि ऋषीसंतों ने बताया है । किसी भी क्षण समस्त बाह्यपदार्थों का विकल्प छोड़कर, उन्हें भिन्न समझकर एक अपने आपमें परम विश्राम पायें, यह भी तो एक रोजगार करके देख लिया जाये । देखो कुछ अपने आपको मिलता है अथवा नहीं । अन्य सर्व समागम कल्याण के साधक नहीं है बल्कि एक आकुलता के ही कारण हैं । किसी क्षण तो इतनी हिम्मत बनायें कि सर्वविकल्पों को त्याग दें, घर द्वार, कुटुम्ब परिजन किसी की भी चिन्ता न रक्खें, यही एक काम करने को पड़ा है, अन्य कुछ नहीं । यह मैं अच्छे देह वाला हूँ, मेरा कुल अच्छा है, मेरी जाति शुद्ध है ऐसा किसी भी तरह का ध्यान न आये और केवल एक विश्राम ही रहे उसमें जो आनन्द प्रकट होगा वह आनन्द दूसरे स्थान में नहीं है ।

धर्म का प्रयोजन—भैया ! हम धर्म करने का यत्न करते हैं । वह धर्म किसलिए किया जाता है? सांसारिक सुखों के लिए धर्म नहीं किया जाता है क्योंकि सांसारिक सुख का तो जो दुष्परिणाम निकलता है वह सब हम आपके सामने हैं । थोड़ी देर को कल्पनाजन्य सुख मिला, लेकिन चिंता उस सुख के लिए कितनी करनी पड़ती है और पराधीनता कितनी भोगनी पड़ती है, इसका क्लेश विचित्र है । ऐसा कौन मूर्ख है जो जरासी अपनी महत्ता के लिए अपना सारा जीवन संकट में डाले? जो विवेकी पुरुष होते हैं वे अपनी पायी हुई शक्ति का ऐसा सदुपयोग करते हैं कि उन्हें चिरकाल तक शान्ति मिले ।

अनुपाय की मुसीबत—एक कोई नगर था, जिसमें किसी कुटुम्ब का राजा न हुआ करता था । प्रजा के लोग मिलकर किसी एक को चुन लिया करते थे कि यह हमारा राजा है । प्रतिवर्ष वहां राजा का चुनाव होता था । और एक वर्ष बाद राज्यपद से हटाने के बाद चूँकि उसे पेन्शन न देना पड़े इस कारण उसे बीहड़ जंगल में छोड़ दिया जाता था । यह नियम बना रक्खा था । प्रयोजन क्या था कि यह नगर में रहेगा तो नगर में अपमान होगा कि यह वही पुरुष है जो पहिले राजा था, आज नगर में गली-गली भीख मांगकर खा रहा है । इस कारण वह जंगल में छोड़ दिया जाता था ।

जैनशासन में प्रतिरूप परम्परा—देखो जैनशासन में जो परम्परा है नाटक करने की अथवा ड्रामा या रूपक दिखाने की, उसमें कोई बालक भगवान् का रूप बनाकर नहीं आ सकता । कोई बालक ऋषभदेव का

पार्ट करे तो कैसे वह मुनि हुए, कैसे तपस्या की कैसे ज्ञान हुआ, कैसे मोक्ष पधारे, ये सब रूपक रखने की जैनशासन में आज्ञा नहीं दी गयी है, क्योंकि उससे जैन देवता का अपमान है । आज किसी लड़के को ऋषभदेव का या महावीर का रूपक किसी नाटक में बना दिया गया, ऐसा करे कोई तो उसमें तो प्रभु का अपमान है । मान लो किसी बच्चे में महावीर स्वामी की कल्पना कर ली गई और थोड़ी देर में वह बच्चा रोकर दाल रोटी मांगे अथवा कोई रागभरी चेष्टा करे, अपने शरीर को संभाले, कुछ लोगों के बीच में अपने को देखकर, अपना आदर होते देखकर अपने मन में खुश हो तो यह तो प्रकट भगवान् का अपमान है । एक पाषाण की मूर्ति में भगवान की स्थापना करते हैं उसकी तो भक्ति में मन लग जायेगा, क्योंकि उस मूर्ति की ओर से कोई राग भरी चेष्टा नहीं होती है । किसी बालक को थोड़ी देर के लिए भगवान् बना दिया तो उसके चलने, उठने, बैठने में राग साफ नजर आयेगा, फिर वहाँ कैसे मन लगेगा?

अधिकार का प्रयोग—उस नगर का राजा एक साल बाद बीहड़ जंगल में छोड़ दिया जाता था ताकि उसके बाद में फिर उसका अपमान नगर में न हो । यों बहुत से राजा उस नगर में बने, अन्त में वे जंगल में छोड़ दिये जाते थे और बाद में मर जाते थे । एक बार कोई विवेकशील पुरुष राजा बनाया गया । उसने सोचा कि हमें भी एक वर्ष बाद किसी बीहड़ जंगल में छोड़ दिया जायेगा और बुरी तरह से कष्ट उठाकर प्राणघात सहना पड़ेगा । कुछ विवेक जगाया । सोचा कि हम एक वर्ष को राजा बने हैं, एक वर्ष को तो हमारा सारा अधिकार है । हम जो चाहें सो एक वर्ष तक कर सकते हैं । उसने क्या किया कि उस बीहड़ जंगल में उसने एक फार्म खुलवा दिया । नौकर भेज दिया, बैल वगैरह जो कुछ भेजना था भेज दिया, बाग बगीचा कुवां आदि बनवा दिया । अब एक वर्ष बाद जब राज्यकाल समाप्त होता है तो उसे जंगल में छोड़ दिया गया । अब उस जंगल में तो उसे कुछ भी नुक्सान नहीं है । वह तो ठाठ से रहने लगा ।

सुअवसर का सदुपयोग—ऐसे ही हम आप कुछ वर्ष के लिए मनुष्य हुए हैं, यों समझिये कि संसार के जितने प्राणी है उन सबके हम राजा हुए हैं । अन्दाज करलो, अन्तर में देख लो । मनुष्य कितनी कलावों का धनी है ? कैसे संगीत जानता, कैसे अनेक अविष्कार कर लेता, कैसे बड़े-बड़े महल चुनता, कैसे-कैसे कपड़े पहिनता बुनता, कैसे-कैसे भोजन बनाता खाता ? कैसे-कैसे ढंग से भाषण देता, बड़ी-बडी बातें सोचना, ये सब कलाएँ कहां पशुपक्षियों में होती है? कहीं कीड़ा मकौड़ों में होती है? तो मनुष्य सबका राजा ही तो हुआ । संसार के सारे प्राणियों का अब यह राजा बन गया कुछ वर्षों के लिए, पर यहाँ यह रीति है कि कुछ वर्षों के लिए राजा बना दो, मनुष्य बना दो और बाद में फिर इस मनुष्य को नरक निगोद के बीहड़ जंगल में पटक दिया जायेगा, ऐसा रिवाज है और इस ही रिवाज के माफिक अनेक जीव मनुष्य हुए और यहाँ से चलकर नरक निगोद की योनियों में, पशु पक्षियों की योनियों में चले गये । कोई विवेकशील मनुष्य बन जाये तो वह यह सोचेगा कि जब तक हम मनुष्य है, राजा है तब तक तो हमारा इतना श्रेष्ठ मन है कि हम इस मन से बहुत बडी-बड़ी बातें जो निष्पन्न करना चाहें कर सकते हैं । अब इसने क्या काम शुरू किया? अपना परिणाम निर्मल बनाना, अपने एकत्वस्वरूप को निरखकर उसही स्वरूप में रमण करना यह काम करना इसने शुरू

किया । तो इस मनुष्य भव के छूटने के बाद उसे मोक्षमार्ग में वृद्धि का मौका मिलेगा और कभी बहुत ही निकट शीघ्र अपने आपके संयम के बल से शीघ्र संसार के संकटों से सदा के लिए मुक्त होगा और परम उत्कृष्ट आनन्द का धाम जो मोक्षस्वरूप है, उसको प्राप्त करेगा ।

ज्ञानयुक्त का यत्न हम आपको ये तन, मन, धन, वचन, अपूर्व समय आदि को विषयों में बरबाद न कर देना चाहिए । कदाचित् चिग जाये और विषय साधन भी सेवने भोगने पड़े तो भी सही-सही ज्ञान बनाये रहें । ज्ञान सही बनाने में तो कोई आपत्ति नहीं है । हां, रागद्वेष भरे पड़े हैं इसलिए हम आप धर्म से विचलित हो जाते हैं, चारित्र नहीं बन पाता, पर ज्ञान सही बनाने में तो कोई बाधा ही नहीं है । घर में रहता हुआ, बालक को खिलाता हुआ कोई सही ज्ञान बना ले तो उसको कौन रोकेगा? ये एक मायारूप पर्यायें हैं, यह न केवल आत्मा है, न पुद्गल है, यह तो कर्म शरीर और आत्मा को मिलाकर एक मायारूप बना है । बच्चा गोद में रहे और बच्चे के प्रति यह ज्ञान बनाया जा रहा है कि यह भिन्न जीव है, इसके भी विषय कषाय लगे हैं, यह भी कर्मों का प्रेरा है, अन्य जीवों की भांति यह भी न्यारा है । क्या बच्चे को गोद में लेकर भी ऐसा ज्ञान किया नहीं जा सकता? सही बात पुरुष को नियम से जानने में आया ही करती है ।

यथार्थज्ञान में आकुलता की समाप्ति—कोई सामने टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी हो और उसमें सांप का भ्रम हो जाये तो जब तक भ्रम की अवस्था भरी है तब तक आकुलता है, और कुछ हिम्मत बनाकर उसे देखने के लिए बढ़े और समझ में आया कि यह तो कोरी रस्सी है और पास में जाकर उसको छूकर उठाकर हिलाकर अच्छी तरह से देख लिया, सही ज्ञान हो गया तो फिर उससे कोई कहे कि तुम वैसा ही भय सांप का फिर बना लो तो वह कैसे बना सकता है? एक बार सही ज्ञान होने पर फिर उल्टा ज्ञान कैसे किया जा सकता है? ऐसे ही परिस्थितिवश राग भी जगता है, लेकिन इस सम्यग्ज्ञान का सही प्रयोग रक्खें तो इसमें कौन बाधा डालता है? यथार्थ को जानते जावो । जानने में जो विपरीतता है, वही इस जीव को रुलाने वाली चीज है । सम्यक्त्व जगे, अपने शुद्धस्वरूप का भान रहे तो इसमें आकुलता न उत्पन्न होगी । हम सबका कर्तव्य है कि इन कठोर दुःखदायी विषयों का लोभ न करें । आसक्ति न हो और सुगम स्वाधीन ज्ञानानुभव मात्र धर्मपालन की ओर अपनी दृष्टि जगायें । आत्मदृष्टि में यह बल है कि वह जन्ममरण की परम्परा को मिटा देगी और अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके संसार के संकटों से सदा के लिए मुख करा देगी । इससे एक निर्णय रखिये कि विषयों में फंसना नहीं है और सच्ची-सच्ची बात जानते रहना है । चाहे कुछ बीते । न छोड़ सकें राग, पर यथार्थ जानने में हम भूल करें, ऐसा कभी न होने दें । यह यथार्थ ज्ञान ही हम आपका सहाय है, शरण है । सर्वप्रयत्न करके शुद्ध ज्ञान के अर्जन में अपने को लगाये ।

श्लोक (९४)

प्रज्ञै दुर्लभा सुण्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते शोच्याः खलु धीमताम् ।। ९४ ।।

जीव का आदिमवास—इस लोक में आज हम आपने जो स्थिति पायी है वह उत्कृष्ट और दुर्लभ पायी है । इस जीव के आदि अवस्था निगोद दशा की थी । यह बात आचार्य समझते हैं कि प्रत्येक जीव सर्वप्रथम निगोद अवस्था में था और वह निगोद दशा इस जीव के अनादिकाल से थी । निगोद क्या चीज है? ऐसे एकेन्द्रिय जीव जिनके केवल शरीरमात्र है, जीभ, नाक, आंख, कान नहीं है और वे वनस्पति के सहारे हैं अथवा बिना वनस्पति के हैं, ऐसे निगोद जीव कहलाते हैं । इनका एक सेकेण्ड में २३ बार जन्म मरण होता है । कोई विवेक नहीं, बुद्धि नहीं; केवल दुःख भोगना, जन्मना यही उनका काम है । यह दशा सबसे अधिक निकृष्ट दशा है । नारकी जीव बड़े-बड़े दुःख पाया करते हैं पर उनसे भी अधिक निकृष्ट दशा निगोद की है । नारकियों के मन तो है, कभी विचार तो कर सकते हैं, पञ्चेन्द्रिय का विकास तो है, पर निगोद जीव के तो नाममात्र को स्पर्शन इन्द्रिय का विकास है ।

स्थावरों में—यह बात सुनाई जा रही है अपनी सबकी कहानी की । सर्वप्रथम हम आप निगोद दशा में थे, निगोद दशा से कभी निकलने का सुयोग मिला तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति इन स्थावरों में उत्पन्न हुए । ये स्थावर निगोद की दशा से अच्छे हैं । इससे निगोद दशा निकृष्ट होती है । पृथ्वी आदिक भी हो गये तो कुछ लाभ नहीं होता । पृथ्वी को लोग सुरंगों में खोदते हैं । यों उसका भी हनन लोग किया करते हैं । कौन उस पर दया करता है? जल को भी बिलो करके, बन्द करके उसकी अनेक दशाएं की जाती हैं । अग्नि को भी लोग पानी डालकर बुझा डालते, हवा को भी लोग रबड़ के पहियों में भरकर बन्द कर देते हैं अथवा पंखा चलाकर वायुकायिक जीवों में खलबली मचा देते हैं । यह सब वायुकायिक जीवों का घात है । वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में देखो—पत्तियों को लोग छेद-भेद डालते आग में गर्म करते, धूप में सुखाते, ये सारी बातें की जाती हैं ना, वे भी एकेन्द्रिय जीव हैं, ये दशाएं भी कोई महत्त्व की दशाएँ नहीं है, पर निगोद की दशायें इनसे भी बुरी दशाएँ
हैं ।

दो इन्द्रियों में—कभी सुयोग मिला तो स्थावरों से निकलना होता है । दो इन्द्रिय जीव हो गया । इन दो इन्द्रिय जीवों के उससे अधिक विकास है । रसनाइन्द्रिय हो गयी, अंगोपांग उसके होने लगे । एकेन्द्रिय जीव के तो अंगोपांग ही न थे, हाथ पैर मुह कुछ भी तो न था । दो इन्द्रिय जीवों को तो रसना इन्द्रिय से रसों का स्वाद मिलता है । दो इन्द्रिय जीव के अब कुछ विकास हुआ, पर दो इन्द्रिय जीवों की भी क्या दशाएं हैं, अनाज में लट पड़ जायें उनको निकालकर यों ही फेंक दिया जाता है व्यर्थ जानकर । नीचे लट वगैरह चल रही हों तो लोग उनपर कूदते फांदते चले जाते हैं । मछली पकड़ने वाले लोग केचुवों को पकड़कर अपनी बल्ली में लगाकर पानी में डाल देते हैं ताकि मछली उसे खाये और उसमें फंस जाये । दो इन्द्रिय जीवों की ऐसी-ऐसी दशाएँ हुआ करती है । कुछ डाक्टर लोग तो जोंक पालते हैं, किसी का खून खराब हो तो वे जोंक लगा देते हैं, जोंक ने रस खींच लिया और बाद में उस जोंक को मसलकर खून भी निकाल देते हैं । कोई एक जीव की ही बुरी कहानी हो तो भी गनीमत, प्रत्येक दो इन्द्रिय जीवों की ऐसी-ऐसी स्थितियां चलती हैं ।

तीन इन्द्रियों में—यह जीव कुछ विकास में बढ़ा । तीन इन्द्रिय बन गया । अब देख लो तीन इन्द्रिय का विकास । यह विकास दो इन्द्रिय से अधिक है । दो इन्द्रिय के पैर नहीं होते हैं । अब तीन इन्द्रिय में पैर बनने शुरू हो गए । कुछ लोग आधुनिक जन कहते हैं कि यह मनुष्य कैसे बना? तो कुछ ऐसा बताया करते हैं कि पहिले मछली था, फिर मेढक बना, फिर और कुछ बना, फिर बन्दर बना, फिर पूंछ घिस गयी सो आदमी बन गया ऐसी बात यहाँ नहीं कही जा रही है । यहाँ तो कोई जीव नये जन्म विकास को धारण करता है और इस तरह उत्तरोत्तर विकास को पाकर मनुष्य बन गया है । तीन इन्द्रिय जीवों के पैर होते हैं, नासिका होती है । अब इसके तीन इन्द्रियां हो गयीं । स्पर्शन, रसना और घ्राण ।

स्पर्शन, रसना व घ्राण का निर्देशन—स्पर्शन इन्द्रिय का काम है स्पर्श का ज्ञान करा देना । रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म आदिक स्पर्श का ज्ञान करा देना स्पर्शन इन्द्रिय का काम है । रसना इन्द्रिय का काम खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चरपरा आदि रसों का ज्ञान कराना है । यह रसना इन्द्रिय है कहां ? लोग जीभ निकालकर बता देते कि यह है देखो रसना । जो बताया है आपने जीभ निकालकर उससे कोई चीज छुवा दे तो उससे ठंडा गरम का भी ज्ञान हो जाता है और ठंडा गरम का ज्ञान कराने वाली स्पर्शन इन्द्रिय है । जब गर्म भोजन किया जाता है तो जब उसे जीभ में छुवाया जाता है तो झट ठंडा गरम मालूम हो जाता है । तो यह रसना इन्द्रिय कहां छिपी हुई है, क्या बताया जाये? लोग बताते हैं जीभ निकाल कर उसके ठीक बीच में चीज धर दो तो स्वाद न आयेगा । वह जीभ की नोक जब छू ले तो झट स्वाद आ गया । कहां छिपी है वह रसना जिसने दुनिया को परेशान कर डाला है ? कहीं नहीं मिल रही है वह । घ्राणइन्द्रिय हो गयी नासिका ।

अविकासवत् विकास—चींटी चींटा, बिच्छू ये सब तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं । जिनके जो आखिरी इन्द्रिय होती है उसका विषय उस जीव के बड़ा तेज होता है । तीन इन्द्रिय जीव के नाक का विषय बहुत तेज होता है । जिसे मिठाई का लोभ लगा हो, उस जीव को कहीं मिठाई रक्खी हो तो झट चलकर वह जीव वहाँ पहुंच जाता है । तीन इन्द्रिय तक का भी विकास हो गया, मगर यह कोई खास विकास नहीं है । वे सब मनरहित जीव है, चींटियां जमीन में से एक-एक कण लाकर बाहर फेंकती है और भीतर भी अपना घर बना लेती हैं और कितना सिलसिले से जमीन से दाने निकाल कर उसही जगह फेंकती है और इधर उधर भी उठा उठाकर कुछ चीजें फेंकती है, इतना तक भी चींटियां कर डालती है, लेकिन मन नहीं हैं । यह सब संज्ञावों के बल पर किया जा रहा है । मन उसे कहते हैं जिसके निमित्त से हित और अहित का विवेक किया जा सके । तीन इन्द्रिय जीव तक हो गया, परन्तु कोई लाभ की बात अभी तक नहीं मिली है । यह दोइन्द्रिय से अधिक विकास है । अब गंध का भी ज्ञान करने लगा ।

चतुरिन्द्रियों में—कुछ और विशेष सुयोग मिला तो चारइन्द्रिय जीव बन गया । अब आंखों से देखने का भी काम होने लगा, यह कम बात नहीं हुई । मक्खी भंवरा ततैया, मच्छर, टिड्डी—ये सब चार इन्द्रिय जीव कहलाते हैं । चारइन्द्रिय जीव स्पर्शन से स्पर्श का ज्ञान कर ले, रसना से रस का ज्ञान कर लें, घ्राण से सूंघने

का काम कर लें और आंखों से सब दिखता भी जाता है । इन चारइन्द्रिय जीवों के इतना विकास हो चुका है, फिर भी कुछ लाभ की चीज तो मिली नहीं । अभी मन तो मिला ही नहीं, हित अहित का विवेक कर ही नहीं सकते ।

पञ्चेन्द्रियों में—कुछ और विकास हुआ तो यह जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय जीव हुआ । अब इसे कान भी मिल गए । चेत भी सकते हैं, किन्तु पञ्चेन्द्रिय में पशु पक्षी बन गए तो उनकी स्थिति भी कोई ऊँची नहीं है । अपने मन की बात दूसरों को बता नहीं सकते । दूसरों के मन की बात शब्दों से जान नहीं सकते । क्या है? बस खाना पीना आहार निद्रा, भय, मैथुन ये ही सब लगे हैं । उन पञ्चेन्द्रियों में मन वाले पञ्चेन्द्रिय होकर जहाँ कोई कला नहीं है, ऐसे पञ्चेन्द्रियों का जन्म यद्यपि चौइन्द्रिय की अपेक्षा कई गुणा उत्कृष्ट है, लेकिन उससे विशेष कला और व्यवहार न होने के कारण अब भी न कुछ की तरह है । पञ्चेन्द्रिय में नारकी हो गए तो भी कोई खास बात लाभ की नहीं आयी ।

मनुष्यों में—मनुष्य हुआ, यह तो अब देख लीजिए मनुष्यों की कला कितने तो ये संगीत जानें, गीत जानें, कितनी तरह की राग रागनियां जानें, बल जैसा तो एक दोहा भी नहीं बोल सकते । कितनी कला है इन मनुष्यों में, फिर ऐसे ही शृङ्गार की कितनी कलाएँ है, लेनदेन व्यवहार धन कमाना, और और सारे व्यवहार मनुष्य करते हैं । पशु-पक्षी कहां ये सब कर पाते हैं ? मनुष्य का कितना ऊँचा स्थान है? इतना होने पर भी यदि योग्यसंगति नहीं मिलती, श्रेष्ठ धर्म नहीं मिलता, कुल जाति भी विशिष्ट नहीं मिलती, हो गए यों ही मनुष्य, बड़ी कमजोरी है । पागल से फिरते हैं । होते हैं ना कोई बच्चे ऐसे जिनके दिमाग का इलाज करवाना पड़ता है । वहाँ भी कुछ लाभ नहीं उठा पाया ।

परमार्थ के लिये प्रवृत्त बुद्धि की श्लाघनीयता—कोई उच्चकुल में उच्च संगति में स्वधर्म के वातावरण में और वृद्धि तर्कप्रतिभा भी अच्छी मिले, ऐसी जगह उत्पन्न हुआ तो उसने बहुत ऊंची चीज प्राप्त कर ली है । इतना प्राप्त कर लेने पर भी इस लोक में विचाररूप बुद्धि होना कठिन है । जिस बुद्धि का उपयोग अच्छे विचारों के लिए बनायें, वह बुद्धि दुर्लभ है और वह बुद्धि परलोक के अर्थ लग जाये, आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो, अगला भव श्रेष्ठ मिले, धर्म का संग मिले, इसके लिए बुद्धि चले तो यह दुर्लभ से भी दुर्लभ है । अब इतनी विशिष्ट बुद्धि को प्राप्त करके यदि हम प्रमादी रहे तो यह बड़े खेद की बात है ।

अतीत का मूल्याङ्कन—भैया ! समय बड़ी शीघ्रता से गुजर रहा है । गुजरा हुआ समय पुनः वापिस न आयेगा । कोई सोचे कि हमने बचपन को खो दिया है वह वापिस हो जाये तो वापिस नहीं हो सकता । बीता समय पुनः वापिस नहीं आता । जो आज की उमर है, जवानी है, शक्ति की अवस्था है, वह भी गुजर रही है । कोई वृद्ध सोचे कि मैंने बड़ी भूल की, कि समर्थ रहते हुए इस देह को तप व्रत संयम में लगाते तो लाभ था, अब वह समय भी निकल गया, लाभ कुछ भी न पाया, उल्टा नुक्सान में रहे, फिर से वह जवानी आ जाये, ऐसी कितनी भी मिन्नत करें तो वह आ नहीं सकती है । यों ही इस वृद्धावस्था की बात सोचिये । यह मनुष्यजीवन बड़ा दुर्लभ है, और जहाँ ज्ञानशक्ति मनोबल प्रबल बना हुआ है वहाँ यह देह की शिथिलता भी

नुक्सान न करेगी । बूढ़े हो गये, खाट पर पड़ गए, अंग शिथिल हो गये । हाथ पैर भी उठाये नहीं उठते । अरे नहीं उठते हाथ पैर तो न उठने दो । मन के बल का इस हाथ के बल से कुछ सम्बन्ध नहीं है । भेदविज्ञान करके, समग्र परवस्तुवों से उपेक्षा करके अपने आपके मनोबल को बढ़ाया जाये तो वृद्धावस्था में भी लाभ लिया जा सकता है । प्रयोजन यह है कि जो श्रेष्ठ बुद्धि इसने पायी है इस बुद्धि का सदुपयोग कर लें ।

विशिष्ट बुद्धि की व धर्मबुद्धि की दुर्लभता—देखो एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तक के जीव सभी और सभी प्रकार के अपर्याप्तक जीव कोई संज्ञी भी हो तो मन का विचार है नहीं, वहाँ कल्याण का विचार नहीं है । जहाँ मन भी नहीं मिलता है ऐसी पर्यायों में भटकना ज्यादा हुआ करता है । मनुष्यभव या अन्य पशुपक्षी का भव, यह तो बहुत कम मिला करता है । अधिक समय तो एकेन्द्रिय आदिक जीवों में जन्मते रहने में गुजरा करता है । सो इन सब बातों से निकलकर निम्न दशावों से हटकर उच्च विकास करता हुआ कदाचित् यह बुद्धि पाले तो ऐसी वृद्धि का मिलना बहुत कठिन है । कदाचित् किसी के बुद्धि भी मिल जाये, बुद्धि तो मिली हुई है । रेलवे का हिसाब देख लीजिए अलग-अलग है, उसमें भी कितनी बुद्धि के काम, आविष्कार के कामों में देखो कितनी बुद्धि की महिमा है ? बुद्धि भी विशेष षा ली, पर धर्मरूप विचार होना, बुद्धि का सदुपयोग होना यह बड़ा कठिन है । अनन्तबार मनसहित भी हुआ, बड़ी विशिष्ट बुद्धि मिली है, पर धर्मबुद्धि तो किसी ही जीव के होती है ।

सुअवसर के व्यर्थ खोने का विषाद—किसी के धर्मबुद्धि भी हो जाये, धर्मधारण करने लगें तो अधिकांश लोग तो यह सोचा करते हैं कि इसका दिमाग किस ओर है ? इसके दिमाग में कुछ कभी है क्या ? साधु सेवा करता, तीन बार मंदिर जाता, पूजा करता । क्या है इसके दिमाग में ? लोग आश्चर्य से देखते हैं क्योंकि मोही जीव मोह की बात ही में होशियारी समझते हैं । जैसे आजकल लोग झूठ बोलकर किसी को दगा देकर कुछ से कुछ बात बना लें, विषयसाधन बना लें तो उसमें बड़ी होशियारी मानते हैं और कोई सीधा सरल पुरुष अपने काम का ही प्रयोजन रखता है, न मिलें उसे अनेक साधन तो उसे लोग यों ही देखा करते हैं, पर धार्मिक शुद्धि का होना यह बड़े सौभाग्य की बात है । यह किसी ही जीव के होता है, और भाग्य से ऐसी धर्मबुद्धि भी कोई पा ले और पाकर भी सावधान न रह सकें, धर्मपालन में शिथिल हो जायें तो ज्ञानीपुरुष उस बात पर खेद प्रकट करता है कि इतनी दुर्लभ बात प्राप्त कर लेने पर भी प्रमादवश इस अवसर को खो दिया गया है, ऐसा उत्कृष्ट अवसर पाकर भी जो कोई चूक जाये तो हाय इसका कैसा होनहार है? ज्ञानी पुरुष उस पर विषाद प्रकट करता है ।

संयमसावधानी का कर्तव्य—हम आपका इस प्रसंग में कर्तव्य है कि ऐसी धर्मबुद्धि पाकर प्रमादी न हों । इस बुद्धि को और प्रगतिशील बनायें । तत्त्वचिन्तना में, ज्ञानार्जन में सत्संग में, परोपकार में जत तप संयम आदिक में अपने आपको सावधान बनायें । जैसे मान लो आज के दिन कोई खूब दिन भर सोया हो बंद कमरे में, खूब कमरे को ठंडा करके, खूब विश्राम किया हो, दूसरों के लिए इस देह से कोई कष्ट भी न

करना चाहता हो ओर यों दिन व्यतीत हो गया और किसी ने परिश्रम करके, परोपकार करके दिन व्यतीत किया हो, इन दोनों में आलसी ने कौनसा लाभ पा लिया ? अन्त में कुछ हिसाब लगाकर तो देखो और एक श्रम करने वाले ने अथवा व्रत तप संयम करने वाले ने कौनसा घाटा कर लिया? बल्कि उसके चित्त में प्रसन्नता है, उसे सन्मार्ग सूझता है, ऐसे ही आप जीवन भर की बात ले लो, जिसने अपना सारा जीवन प्रमाद में व्यतीत किया हो तो अन्त में मरण के समय बतावो उसने कौनसा लाभ उठा लिया और एक ने तप व्रत संयम में जिसने अपना देह लगाया तो अन्त में बतावो उसने कौनसा नुक्सान पाया है

आन्तरिक प्रयोग—अरे भैया ! यह शरीर तो विनश्वर है । इसको तो व्रत तप संयम में लगावो और अपने आत्मा को सुरक्षित बनावो । ऐसी बुद्धि बहुत कठिनाई से प्राप्त की जाती है । अब परलोक के सुधार के अर्थ इस बुद्धि को जप, तप संयम, ज्ञानार्जन, ध्यान, चिन्तन, सत्संग और सभी आवश्यक धर्मकार्यों को करके पाये हुए इस दुर्लभ समागम का सदुपयोग बना लें । एक घड़ी भी सम्यग्ज्ञान और बिना संयमदृष्टि के व्यतीत मत होने दो, ऐसी अपने अन्तरंग में भावना रखें और ऐसा ही अन्तः प्रयोग करें । इस प्रयोग से तो हम निकट भविष्य में अपना उद्धार कर सकेंगे ।

श्लोक (९५)

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाता-
स्तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे ।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च वत किंकरतां प्रयान्ति ।। ९५ ।।

धर्म का प्रसाद—पूर्व छंद में यह बताया गया था कि इस लोक में दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु है ऐसी बुद्धि का पाना जो बुद्धि आत्मकल्याण में लगाती हो । धन, कन, कंचन, राजसुख सभी वैभव सुलभ हैं, पर एक पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होना बहुत दुर्लभ तत्त्व है । अब इस छंद में यह कह रहे हैं कि ऐसी दुर्लभ बुद्धि पाकर भी ज्ञानी पुरुष इस बुद्धि का दुरुपयोग करें तो यह खेद की बात है । बड़े-बड़े राजा, सम्राट, लोकाधिपति एक इस धर्म के फल से हुआ करते हैं । समस्तजन जानते हैं और ज्ञानी पुरुष तो इसे विशदरूप से जानते हैं । जो कुछ यहाँ ठाठ-बाट, समागम संगति पाया है वह धर्म का प्रसाद है । धर्म का प्रसाद तो इससे भी उत्तम होता है ।

धर्मप्रसाद का विवरण—धर्म का अर्थ है जो अपना स्वभाव है उस स्वभाव की उपासना करना । अपना स्वभाव है ज्ञान और दर्शन, चैतन्य प्रतिभास का । उसकी उपासना करना, यही है धर्म का पालन करना । इस धर्म के प्रसाद से मुक्ति मिलती है, पर इस धर्मपालन के साथ-साथ अपनी शक्ति के कारण कुछ राग और द्वेष उपजते हों, धर्मानुराग होता हो, ऐसी स्थिति में पुण्यकर्म बंधता है । धर्मभाव होने के साथ-साथ दया, परोपकार, भक्ति, सत्संग ऐसा अनुराग जगता हो तो वहाँ विशेष पुण्य का बंध होता है और पुण्य के फल से

साम्राज्य वैभव परिजन सब इष्टपदार्थ, इष्ट समागम मिलते हैं । धर्म का प्रसाद तो इस पुण्य प्रसाद से बहुत ऊँचा है, किन्तु विशेष पुण्य धर्म के साथ-साथ हुआ करता है । इस कारण इसे भी धर्म का प्रसाद कहा गया है । धर्म के प्रसाद से ही ये बड़े राजा और धनिक पुरुष हुए है । ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष भी राजावों के दास बनें तो यह बड़े सोच की बात है ।

धर्मप्रसंग—एक संन्यासी राजभवन में रहने लगा और राजा उसके सत्संग में रहकर अपना तीन चार घंटे का समय धर्मध्यान में व्यतीत करना था । बहुत दिन हो गये, उसकी चर्चा सब जगह फैल गयी कि राजा बड़ा धर्मात्मा है । एक संन्यासी जो कि राजभवन में रहता है उसके संग में राजा तीन चार घन्टे रोज रहता है । विद्वानों की गोष्ठी में यह चर्चा चली कि राजा तो धर्म का काम करता है, उत्तरोत्तर पुण्यवृद्धि का काम करता है और संन्यासी उत्तरोत्तर पुण्यक्षय का काम करता है । ऐसा क्यों ? राजा को तो संन्यासी के सत्संग से धर्म की प्रेरणा मिलती है और यह संन्यासी जंगल का निवास तजकर राजभवन में ठहरा है । राजा के प्रति कुछ अपनी आशा या अन्य कुछ कायरता का भाव रखता है । वह उसके पुण्यक्षय का कारण है । लोग सम्पदा की प्राप्ति के लिए अनेक यत्न करते हैं, किन्तु सद्भावना रहे, सदाचार रहे, सद्विचार रहे इसकी ओर दृष्टि नहीं देते । धन कमाने के लिए देख लीजिए जो कुछ करना पड़े कर डालते हैं, पर यह विचार नहीं होता कि परिश्रम से व्यायाम से अर्थ का उपार्जन नहीं होता, किन्तु जैसा पूर्व जन्म में, पूर्वकाल में सुकृत किया हो, पुण्य बँध गया हो, उसके अनुकूल आज यह समागम मिला है ।

परमार्थ में पुरुषार्थ की प्रधानता—भैया ! सांसारिक बातों में तो कर्मों की प्रधानता है । जैसे कि लोग कभी विवाद करते हैं कि पुरुषार्थ बड़ा है या भाग्य बड़ा है । सांसारिक लाभ के प्रसंग में तो भाग्य बड़ा है और आत्मशान्ति, कल्याण, मोक्ष के प्रकरण में पुरुषार्थ बड़ा है और ऐसा भी कह सकते हैं कि भाग्य के उदय से समागम मिलता तो है, पर वह पुण्य बंध हुवा कब था; कैसे-कैसे वह पुण्य बंध आत्मा के सद्भाव, सद्विचार, सदाचार के परिणामों के कारण हुआ था और वह सद्विचार सद्भाव पुरुषार्थ ही तो है । इस दृष्टि से पुरुषार्थ ही बड़ा कहलाया । जो पुण्यबंध हुआ वह किसी न किसी पुरुषार्थ के निमित्त से हुआ ना, तो परम्परा का पूर्वकाल का पुरुषार्थ इस सम्पदा के मिलने में कारण है, किन्तु मोक्षमार्ग कल्याण साधना आत्महित उस आत्मा का पुरुषार्थ प्रधान है । यद्यपि वहाँ भी ऐसा है कि भाग्य का ठीक उदय हो, पुण्य का उदय हो तो ऐसी स्थिति में मुझे अच्छा भव मिले, अच्छा वातावरण मिले और वहाँ यह आत्मा अपने ज्ञान पुरुषार्थ को भी कर सकता है । या पुण्य भी निमित्त बन रहा है मोक्षमार्ग के चलने में, किन्तु प्रधान तो पुरुषार्थ ही है ।

भाग्य और पुरुषार्थ का विवाद—दो मनुष्यों में झगड़ा हुआ । एक कह रहा था कि भाग्य बड़ा है और एक कह रहा था कि पुरुषार्थ बड़ा है । दोनों राजा के पास पहुंचे । राजा ने बहुत कहा कि तुम लोग आपस में सुलह कर लो । वे कम मानें, अपनी-अपनी हठ पर अड़े रहे तो राजा ने एक बड़े कमरे में कच्ची हवालात कर दी और कह दिया कि परसों तुम्हें निकाला जायेगा । पहिले से ही कमरे में अच्छी जगह बड़े ताख में

आधा-आधा सेर के २ लड्डू धर दिये थे । वे दोनों उस कमरे में नजर बन्द पड़े थे । एक दिन गुजरा, अब तो भूख के मारे दोनों बेचैन पड़े हैं, भूखे पड़े हैं । जो पुरुषार्थ को प्रधान कह रहा था, उससे न रहा न गया तो सारे कमरे में छान बीन करने लगा । यहाँ वहाँ कुछ देर तक देखने के बाद एक ताख में रक्खे हुए दो लड्डू मिले । उसने तो एक लड्डू खाया, पेट भर गया । अब वह सोचता है कि अपना पेट तो भर ही गया, यह भी भूखा क्यों मरे? इसे भी दे दें । उसे भी एक लड्डू दे दिया, उसने भी खाकर अपना पेट भर लिया । अब जब दो दिन व्यतीत हो गए तो वे दोनों न्यायालय में बुलाये गए और पूछा—बोलो पुरुषार्थ कैसे बड़ा है? तो बोला—देखो हमने पुरुषार्थ किया, यहाँ वहाँ खोजा तो लड्डू मिल गए, सो हमने खूब खाया और इसे भी खूब खिलाया । भाग्य वाले से पूछा—बोलो भाग्य कैसे बड़ा है? तो वह कहता है कि हमने कुछ नहीं किया, पड़े रहे टांगें पसारे, पर इसने खुद लाकर हमें लड्डू दिया । हमने खाकर पेट भर लिया । तो सांसारिक स्थिति में भाग्य की प्रधानता है । इसलिए ऐसी हिम्मत बनावें कि रंच भी चिन्ता मत करें । जो भाग्य को मंजूर है, सो है । हम उसके आधीन नहीं हो । हम तो सद्विचार, सद्भाव ज्ञानदृष्टि रखकर अपना काम करें । जो स्थिति गुजरती हो, सो गुजरे । हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं है । इतनी हिम्मत हो ।

धर्मपन्थ—हममें वह कला है कि जैसी भी हमारी स्थिति होगी आर्थिक वैभव की हम उस सब स्थिति में अपना निपटारा कर सकते हैं, गुजारा कर सकते हैं । हमारा जीवन वैभवशाली बनने के लिए नहीं है, किन्तु धर्मपालन करके आत्मकल्याण के लिए है । इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि ये समस्त वैभव मिलते हैं धर्म के प्रसाद से । बड़े राजा हो गए और धर्म के जानकार ज्ञानीपुरुष राजा की ही दासता करे तो यह शोचनीय बात है । राज्यपद है, सो धर्म का फल है । ऐसे ही लोक में खूब प्रसिद्धि है । धर्मसाधन की सर्व सामग्री मिलने से धर्मसाधन हो नहीं सकता । कोई धर्म तो साधे नहीं और धन आदिक का लोभ लेकर राजा महाराजाओं की भारी सेवा करे, तो आचार्यदेव कहते हैं कि हमको इसकी चिंता है । राजा तो धर्म के किए से हुआ था और लोग धर्म की तो सेवा न करें, राजा की सेवा करें तो यह उल्टा ही काम तो हुवा । यह राजा जिस धर्म के प्रसाद से हुआ है, सेवा उस धर्म की करनी चाहिए या राजा की करना चाहिए? सब ज्ञान और अज्ञान का अन्तर है । जिस विवेकी पुरुष के हृदय में ज्ञान जगता है और पर की अपेक्षा न करके साहसी बन जाता है इसको ही धर्म का पन्थ प्राप्त होता है ।

धर्मसेवन की उपादेयता—भाई धर्म का सेवन छोड़कर अन्य कार्य करना योग्य नहीं है । पञ्चेन्द्रिय के विषयों की साधना में और यश कीर्ति के विस्तार में अनुराग बना करता है, किन्तु देखो ये दोनों ही बातें असार हैं । इन्द्रिय विषयों से इसे कोई लाभ की बात नहीं मिलती, अन्त में पछताना ही पड़ता है और यश के विस्तार से इसका कुछ उद्धार नहीं हो जाता । लोग इस देह को निरखकर सोचते हैं कि यह मैं हूँ, और ये देह, यह चाम तो सब जानते हैं, किसी दिन जला दिया जाएगा, राख बन जाएगा । कुछ जरा आगे की बात सोचो जो जलकर राख बन जाएगी । ऐसे इस देह में यह मैं हूं—ऐसी वासना बनाकर कितने पाप किए जा रहे हैं मिथ्यात्व के समान और कोई पाप नहीं है ।

चर्म परीक्षक—एक अष्टावक्र नाम के ऋषि थे । इनके आठों अंग हाथ, पैर, मुख और पीठ आदि सभी टेढ़े-मेढ़े थे । शकल सूरत भी कुरूप थी, पर वे एक ऋद्धिधारी ऋषि थे । वे किसी बड़ी समा में बड़े बडे विद्वान् भाषण देने के लिए खड़े हुए । अष्टावक्र भी खड़े हुए । कोई ऐसे टेढ़े मेढ़े अंग का हो ओर अचानक भरी सभा में व्याख्यान देने को खड़ा हो जाए तो लोग हंसे बिना नहीं रह सकते हैं । इसलिए सभा में जो पण्डित और विद्वान् लोग थे, वे हंसने लगे । अष्टावक्र ऋषि जब व्याख्यान देने लगे तो जैसे लोग हे महानुभावों ! हे सज्जनों !! हे बन्धुओं !!! आदि संबोधन के शब्द बोलते हैं इसी प्रकार उन्होंने संबोधन में कहा—हे चमारों ! (यह शब्द हम किसी के भी लिए नहीं कह रहे हैं, इसका कोई बुरा न मानना) इतनी बात सुनकर सभी लोग हैरान रह गए । सोचा कि इतने महान् ऋषि और इस प्रकार बोलते हैं, मुख से इस प्रकार की अशोभनीय बात निकल रही है । लेकिन अष्टावक्र भी खुद ही इसका उत्तर देते हैं—

भला यह तो बताओ कि जो चमड़े का परखना जानते हैं उन्हें क्या कहते हैं? तो सभासद बोले कि चमार कहते हैं । अष्टवक्र ऋषि ने कहा कि मैं खड़ा हुआ तो आप लोगों ने मेरे चमड़े की खूब परख की, परीक्षा की । मेरे टेढ़े मेढ़े अंग और काले रूप को देखकर, रद्दी शकल सूरत को देखकर आप लोग हंसने लगे तो क्या आप लोगों को चमार नहीं कहा जा सकता ? इसलिए यदि मैंने हे चमारो ! कह दिया तो तुम इस शब्द से रोष क्यों करते हो ?

यह तो एक ऋषि की घटना का अंश बताया है । यहाँ इसका यह अर्थ है कि अपने आपके इस चाम को ही निरखकर इस देह को ही देखकर यह मैं हूँ, बड़ा सुभग हूँ, बहुत होशियार हूँ, दुनिया में कुल डेढ़ अकल है, आधी अकल तो सारी दुनिया में हैं और एक अक्ल मेरे पास है, हम इन सबमें होशियार हैं—ऐसा इस देह में कोई अहंकार न करे । देह को आत्मा मानना ही मोह है, मिथ्यात्व है, पर्यायबुद्धि है, अज्ञान है ।

अज्ञान का पाप—जो चीज ज्ञानरहित है, उसको ज्ञानमय मानना ही अज्ञान है । जो चीज ज्ञानमय है, उसका ज्ञान न होना ही अज्ञान है । अज्ञान के समान कोई पाप नहीं है । लोग कहने लगते हैं कि जो जान करके पाप करेगा, उसे तो अधिक पाप लगता है और जो जानता ही नही कि इसमें पाप है और पाप करे तो उसे कम पाप लगता है । इस संबन्ध में आपका क्या निर्णय है ? कुछ-कुछ ऐसा समझ में जरा आता होगा कि ठीक तो है । जो जानते नहीं है कि यह पाप का काम है, उन्हें काहे का पाप? जो जानते हों कि इसमें पाप है और पाप करें तो उनको पाप लगेगा, किन्तु यह भी तो संभव है कि जानने वाले के कषाय हो पाप करने की तो संभला हुआ रहता है और जो जानता ही नहीं है, वह जो पाप करेगा, रस डटकर करेगा । इसे अभी उदाहरण द्वारा समझाते हैं ।

पापों को जानकर कभी कर्मप्रेरणावश पाप करने की नौबत आये तो वह स्वच्छन्द होकर पाप न कर सकेगा । पाप करते हुए भी चूंकि जानकार है तो पाप से कुछ उपेक्षा रखकर, कुछ निवृत्ति का अंश रखकर पापकार्य में भी लगता है और जिसे मालूम ही नहीं है, वह तो अपने पूरे बल के साथ पापकार्य में प्रवृत्त होता है । एक यही कारण है कि अज्ञानी को पाप का बंध विशेष होता है ।

अज्ञानी की पापमयता—दूसरी बात यह सुनिये कि अज्ञान खुद एक बड़ा पाप है । जो उसने तन, मन और वचन की चेष्टा से पाप किया है, वह पाप तो अलग है, किन्तु उससे कई गुणा पाप अज्ञान है । अपने आत्मा की जानकारी न रहना, परवस्तुओं के स्वरूप की जानकारी न रहना आदि जो भी अज्ञान दशा है, वह स्वयं पाप है ।

अज्ञान के संकट पर एक दृष्टान्त—तीसरी बात सुनिये । इसे समझाने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं कि एक आग का जलता हुआ कोयला पड़ा हुआ है । किसी पुरुष के आगे आग पड़ी है वह यह जान रहा है । कोई पुरुष पीछे से धक्का दे तो वह शीघ्रता से आग पर पैर रखकर ही निकल जाएगा, वह आग में अधिक न जलने पाएगा । और एक पुरुष जिसे यह पता नहीं है कि हमारे आगे आग का कोयला पड़ा हुआ है, वह तो निःशंक होकर बड़ी मजबूती से अपने पैर उस आग पर रख देगा । जब वह बहुत कुछ जल जाएगा, तब वह अपने पैर उठाएगा । तो इसी प्रकार समझलो कि ज्ञान होने पर कदाचित् पापबंध हो तो उसमें तीव्र बंधन की सामर्थ्य नहीं है, पर वास्तविक मायने में ज्ञान हो, उसकी यह कथा है ।

शान्ति का उपाय धर्मपालन—ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह सर्वसाम्राज्य और समागम धर्म का फल है । फिर भी वह धर्म की ओर तो झुके नहीं और उस समागम की ओर, उस सम्पदा वैभव की ओर झुके तो ज्ञानी व संत पुरुष के लिए यह अशोभनीय बात है । इस छंद में यह शिक्षा दी गई है कि धर्म से सदैव सुख होता है । कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि आज के इस समय में जितना अन्याय किया जाये, चोरबजारी की जाए झूठे लेख लिखे जायें और भी कितनी चालाकियां हो सकती हो, उन चालों से चला जाए, दुनिया को धोखा दिया जाए और इन उपायों से अपना वैभव बड़ा लिया जाये, यश बढ़ा लिया जाये, इसमें बुद्धिमानी है, और ऐसा करने वाले सुखी है । लेकिन जो पुरुष अनर्थ करते हैं, उनको तो स्वयं ज्ञात है ना कि मैंने यह अनर्थ किया है । उस प्रभु को स्वयं यह मालूम है और जिसे अपने अनर्थ की बात मालूम है उसमें वह बल नहीं जग सकता कि वह शान्ति प्राप्त कर ले, पहिली बात तो यह है । दूसरी बात यह है कि अन्याय चालाकियों से जो कोई धन या यश पा ले, उसके लिए अनेक उपद्रव लगे रहा करते हैं । जिसने बड़ा राष्टनेता होकर भी भ्रष्टाचार किया है इसकी-दशा आप लोग पेपरों में पढ़ते ही हैं । वे अन्त में बुरी तरह मारे जाते हैं, धन भी छीन लिया जाता है । कहां उनको शान्ति मिलती है ?

धर्मपालन का अनुरोध—भैया ! शान्ति तो धर्मसाधना में ही है । चाहे वहाँ वैभव न बढ़े, किन्तु जिनका ज्ञान अपने आपमें साध्य है, विवेक जिनका जागरूक है उन्हें शान्ति और संतोष मिलता है । धन वैभव से शान्ति नहीं आती, किन्तु अपने ज्ञान से यथार्थ अवगम से शान्ति उत्पन्न होती है । इस कारण आनन्द के लिए अन्य उपाय और चिन्तावों में व्यग्र न होकर एक शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक आचरण के पथ में हमें चलना चाहिए और इस धर्म का लक्ष्य रखना चाहिए । सर्वसिद्धि धर्म के प्रसाद से ही हुआ करती है । पुण्य के फल में हमें न झुकना चाहिए, किन्तु एक उस सम्यक् अवबोध आत्मदर्शन आत्मरमण रूपधर्म के पालन में अपने आपको लगाना चाहिए । सर्वसिद्धियां धर्म के प्रसाद से ही हुआ करती है ।

श्लोक (९६)

यस्मिन्नस्ति स भृमृतो धृतमहावंशा प्रदेश: पर:
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना: मूर्घ्ना घ्रियन्ते श्रियै ।
भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो,
व्यक्तं वक्तुमयुक्तहमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृत: ।। ९६ ।।

धर्म की आदेयता—यह आत्मकल्याणी धर्म जिस धर्म के प्रसाद से, बड़े-बड़े राज्यपद प्राप्त होते हो और लोग भी लक्ष्मी वैभव सम्पदा के लिए जिस धर्म प्रसाद को अपने मस्तक पर धारण करते हों अथवा जिस लक्ष्मी के अर्थ लोग उन राजावों को नमस्कार किया करते हों, जो धर्म के प्रसाद से बड़े हुए हैं, यह सब उस धर्म का ही तो माहात्म्य है । कैसे हुए ये राजा, जो बडे इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए, जिनकी बुद्धि अपरिमित थी, जिनका धन भंडार बड़ा विपुल था, ऐसे राजा जिस धर्म के प्रसाद से हुआ करते हैं वह धर्म का मार्ग सबको प्रतीति करने के योग्य है ।

धर्मफल—धर्म का फल आत्मीय आनन्द है । समस्त संकटों से मुक्त होना, सर्वकर्मों से छूट जाना यह सब धर्म का फल है, लेकिन इस धर्म के होते हुए जो कुछ शुभोपयोग रहता है, शुभ राग रहता है उसके कारण ऐसे पुण्य का बंध होता है जिसके उदय में ये वैभव सम्पदा स्वयंमेव प्राप्त होते हैं । तप करना, व्रत पालना, दया संयम से रहना क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता आदिक जो परिणाम हैं ये ही तो धर्म प्राप्ति के मार्ग है । यह धर्म कामी पुरुषों के लिए दुर्गम है । जिनका चित्त कामवासना में रहा है अथवा परवस्तु के प्रति जिनका व्यामोह रहा करता है उन पुरुषों को यह धर्म अगोचर है ।

धर्म की सर्वप्रियता—धर्म शब्द सभी को प्रिय है और सभी लोग अपनी-अपनी कल्पना में किसी न किसी क्रिया अथवा तत्त्व को धर्ममार्ग कह कर उसके विलास को उत्सुक रहा करते हैं । जिन्होंने जो भी धर्म माना उस धर्म पर न्यौछावर हो जाते हैं । वह धर्म आज नाना भेदों में दिख रहा है । जिसके नाना मजहब नजर आते हैं । वास्तव में जैसे आत्मा एक समान है, एक स्वरूप है, ऐसे ही धर्म एक स्वरूप है । संसार में रुलने का उपाय भी एक है और संसार से मुक्त होने का उपाय भी एक है, लेकिन कोई निष्पक्ष भाव से विचारे तब धर्म की झलक हो, और निष्पक्षता तब ही आ सकती है जब अपने में एक आत्मा का ही नाता मानें । जहाँ इसने अपने देह पर दृष्टि दी और इस देहदृष्टि के कारण अन्य वस्तुवों को अपनाने की बुद्धि के कारण धर्म का पात्र नहीं रहा । समता में धर्म है । जहाँ रागद्वेष है वहाँ धर्म नहीं है । धर्म के बिना यह जीवन यों ही खोया जा रहा है ।

भविष्य की हैरानी—भैया ! यहाँ जितने समागम हैं ये सब विनश्वर हैं, चंद दिनों के हैं, मिट जायेंगे । अपना यहाँ कुछ नहीं है, पर इन भिन्न पदार्थों का आश्रय करके उनको उपयोग में लेकर जो रागद्वेष की वृत्ति बनाई जाती है यह भविष्य में हैरान करेगी । चीज तो निपट जायेगी । जिस वस्तु के बीच राग किया जा

रहा है वह वस्तु तो विघट जायेगी । वह तो विनश्वर है, पर उस वस्तु का आश्रय करके ख्याल में लेकर जो राग बनाया गया है यह राग भव-भव में हैरान करेगा । यह जीव इस पुद्गल का आश्रय तो इसलिए करता है कि मुझे सुख हो, मुझे सहारा मिले, पर यह पुद्गल मिट जायेगा, दूर हो जायेगा और इसके प्रति किया हुआ जो मोह है यह मोहपरिणाम भव-भव में दुःख का साधन बनेगा ।

क्षणिक गल्ती का चिर दुष्परिणाम—किसी क्षण तीव्र मोह करने के कारण इस जीव को ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक का मोह ममता का बन्धन हो सकता है । देखिये—गल्ती तो एक सेकेन्ड को की, पर एक सेकेण्ड की गल्ती में इतने कर्मबंध किये कि इस जीव को अब ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक दुखी होना पड़ेगा । एक सेकेण्ड की गल्ती में कितने समय तक के लिए कर्मबंध जाते हैं और इस संसार में रुलना पड़ता है । इसके लिए एक कल्पना करो कि दो हजार कोस का लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा हो और उसमें बहुत छोटे-छोटे रोम के टुकड़े जिनका दूसरा भाग न हो सके भर दिये जाये और ठांस दिये जायें, चाहे हाथी फिरा दिया जाये जिससे? वह खूब डस जायें । अब १००-१०० वर्ष में एक-एक रोम का टुकड़ा निकाल-निकाल कर बाहर करें तो कितने वर्षों में वे सारे रोम खाली होंगे इसकी कुछ गिनती नहीं है । इतने समय का नाम है व्यवहारपल्य और उससे असंख्यातगुणा समय लगता है उसका नाम है उद्धारपल्य और उससे भी असंख्यात गुणा समय लगे उसका नाम है अद्धापल्य । ऐसे एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करें तो वह हुआ एक कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य । ऐसे १० कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य का नाम एक सागर है । एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागर का गुणा करें उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी सागर । ऐसे ७० कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए बंध जाना पड़ता है एक सेकेण्ड की गल्ती में ।

काय में पवित्रता व अपवित्रता की दृष्टि—अब सोच लो, कल्याण की दृष्टि से तो यह पवित्रकाय है, शरीर है, अन्य शरीरों से आत्मकल्याण का साधन नहीं मिलता और इस नरदेह से आत्मकल्याण का साधन मिलता है और इसमें जो भरा है उसे दृष्टि से देखो तो यह महा अपवित्र शरीर है । इस सारे शरीर में जिसका वजन करीब डेढ़ सवा मन है इतने वजनदार शरीर में कोई तिल के दाने बराबर भी सारभूत मैटर है क्या ? हड्डी, खून मांस मजा पीप, चाम, रोम, नाक आदि हैं । कोई भी बात ऐसी नहीं है कि कुछ भी पवित्र हो । पशुवों के तो दांत भी काम आते हैं, हड्डी भी काम आती है, खाल भी काम आती है । यद्यपि वे भी ऐसे ही अपवित्र है, पर कुछ काम भी आते हैं । मनुष्य का शरीर तो मरने के बाद कुछ भी काम नहीं आता । सारा शरीर इसीलिए जला देना पड़ता है । काम आने की बात तो जाने दो । यदि यह शरीर ऐसे ही पड़ा रहे तो उलटा जनता को क्लेश हो जाता है । दुर्गन्ध फैले, बीमारी फैले । ऐसे इस गंदे शरीर को हम आप लादे फिर रहे हैं, तिस पर भी इस देह को निरखकर अभिमान में फूले जा रहे हैं ।

आत्मकर्तव्य—भैया ! जो देह विघट जायेगा उस देह का ख्याल कर-कर अपने को मोह रागद्वेष में फंसा लेना और सागरों पर्यन्त कर्मों को बांध लेना । यह तो कोई विवेक का काम नहीं है, तब क्या करें ? कैसे इन संकटों से, दुष्कर्मों से छूटे? उपाय एक ही है, अपना जो सहजस्वरूप है उसका परिज्ञान करायें । मैं

अपने आप किस स्वरूप वाला हूँ, पर-उपाधि के सम्बन्ध से जो बात गुजरती है उसको नहीं कह रहे हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है । जो परनिमित्त पाकर बात आती है वह मेरा स्वरूप नहीं है । मेरा स्वरूप वह है जो मुझ में अनादि से अनन्तकाल तक स्वयमेव सहज स्वत: बना है । वह स्वरूप है चैतन्य-शक्ति, प्रतिभासात्मकता । अपने को केवल ज्ञानमात्र समझें । मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ । कुछ कष्ट हो रहा है क्या इतना मानने में? मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसका अर्थ यह है कि मैं देहरूप भी नहीं हूँ । किसी कामकाज वाला भी नहीं हूँ, परिवार वाला, मकान वाला, वैभव वाला, पोजीशन वाला भी मैं नहीं हूं; धनी, गरीब मूर्ख पंडित भी मैं नहीं हूँ, किसी सम्प्रदाय वाला भी मैं नहीं हूँ । पुण्य आत्मा, धर्म आत्मा कितने ही विशेषण लगाते जावो, उन विशेषणों से जो भेद ज्ञात होता है वह भी मैं नहीं हूँ । मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूँ । इतना मान सकते हैं क्या हम सही ढंग से, ईमानदारी से अर्थात् फिर अन्य प्रकार का विकल्प न जगे श्रद्धा में, पूरी तौर से यदि यह श्रद्धा बन जाये कि मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ तो इस श्रद्धा से जीत मिलेगी, वह प्रकाश मिलेगा जिसके अनुभव में सत्य सहज अनन्त आनन्द बसा हुआ है ।

एकमात्र निजोपयोग की हितकारिता—हे आत्मन् । यदि शाश्वत आनन्द चाहते हो तो चित्त में यह श्रद्धा लेनी होगी कि परिजन मेरे कुछ नहीं हैं, अणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसी श्रद्धा करनी होगी तब अपने आपका स्वरूप अपने को नजर आयेगा । जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं रक्खी जा सकती हैं, कपड़े में एक सुई एक साथ दोनों ओर सी नहीं सकती है, एक मुसाफिर एक बार पूरब और पश्चिम दोनों दिशावों को नहीं जा सकता, इस ही प्रकार एक उपयोग में भोगभाव और धर्मभाव—ये दोनों ठहर नहीं सकते हैं । संसार का सुख भी लिया जाये और मुक्ति का उद्यम भी करते जायें—ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं । ''दोउ काम नहि होंय समाने । भोग विषय और मोक्ष में जाने ।।'' वह ज्ञानी संत धन्य है जो समागम में घर में रहते हुए भी अपने आपमें यह श्रद्धा बनायें हुए है कि मैं आत्मा तो ज्ञानमात्र हूँ, और इसका करतब तो जानना और देखनामात्र है, अन्य कुछ नहीं है । ऐसे अक्रियस्वभाव की जो प्रतीति रक्खे हैं और घर में रहते हैं वे यद्यपि काम सभी करते जाते हैं तो भी ऐसे पुरुष जल से भिन्न कमल की तरह शोभा पाते हैं ।

जल में भिन्न कमलवत् ज्ञानी की रीति—देखो यह कमल जल से ही पैदा हुआ, जल से ही निकला और जल से ही इस कमल का पोषण हो रहा है । मूल में जल न हो तो कमल न उत्पन्न हो, न हरे-भरे रहे । जैसे जल के प्रताप से इस कमल का जीवन है । यह कमल जल को छोड़कर जल से कितना ही ऊपर रहा करते हैं । ऐसे ही गृहस्थभाव में इस गृहस्थ की उत्पत्ति भी इसी गृहस्थी में होती, इसका पोषण भी इसी गृहस्थी से चल रहा है, और धर्मसाधना के लिए जितने जो कुछ साधन और वातावरण पा रहा है, इस गृहस्थ कायों की वजह से पा रहा है, तिस पर भी यह ज्ञानी गृहस्थ उन समस्त साधनों से, गृहस्थी से, परिजन से मोह आदिक भावों से अलग ही रहता है, विरक्त रहता है । ऐसा कोई अद्भुत ज्ञानपुंज इसने निरख लिया, पा लिया जिसके प्रसाद से इसकी एक ऐसी दुनिया बस गयी कि जिसमें आनन्द ही आनन्द बसा है, आकुलता का कोई काम नहीं है ।

धर्म का महत्त्व—निज ज्ञानस्वभाव का दर्शन करना, निज ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना यही धर्म है । इस धर्म की महत्ता को बड़े-बड़े आचार्य पुरुष भी बताने में असमर्थ है । इस धर्म को तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, संत ऐसे ऊँचे-ऊँचे पुरुषों ने धारण किया है । यह प्रभु द्वारा प्रकट किया गया धर्म सबको प्रतीति करने योग्य है । धर्मपरिणाम से उत्पन्न होता है । बाह्य क्रियाएँ तो इतने काम में सहयोग देती है कि उल्टी क्रियाएं जो की थीं अधिक विषयसाधन आरम्भ परिग्रह और अनेक-अनेक, उन खोटी क्रियावों उन खोटे आशयों से विराम मिले, इसके लिए ये व्यावहारिक धार्मिक क्रियाएँ है, किन्तु धर्म मिलता है एक शुद्ध जानन विकासमात्र स्वभाव के आश्रय से । जिसने लब्ध को जान लिया है वह पुरुष तो मार्ग में सफल हो जाता है और जिसने लक्ष्य को नहीं जाना है, मूलतत्त्व को नहीं पहिचाना है, वह सफल नहीं हो पाता ।

अज्ञानचेष्टा से कार्य की असिद्धि—एक बार किसी गांव से तीन बजाज दूसरे गांव के लिए चले, अपना-अपना घोड़ा लेकर कपड़ा खरीदने के लिए । रास्ते में रात होने लगी तो एक पेड़ के नीचे वे बजाज ठहर गए । उस पेड़ पर बन्दर रहा करते थे । जाड़े के दिन थे, सो जाड़े से बचने के लिए उन्होंने एक उपाय बनाया कि आस-पास के खेतों से जो बाढ़ लगी थी उसको उठा-उठाकर उसी पेड़ के नीचे इकट्ठा किया, इसके बाद चकमक से आग सुलगाकर मुख से फूँककर उसको जला दिया, फिर जैसे तापने वाले लोग तापा करते हैं कुक्करू आसन लगाकर और हाथ फैलाकर इस तरह बैठकर वे तापने लगे । ये सब काम ऊपर चढ़े हुए बन्दर देख रहे थे । व्यापारी लोग तो सुबह चले गए । बन्दरों ने दसरे दिन सोचा कि वे लोग भी हम जैसे ही थे । हमारे जैसे ही हाथ पैर उनके थे । उन्होंने तो अपना जाड़ा मिटा लिया था । क्या हम लोग नहीं मिटा सकते हैं ? उन सब बन्दरों ने भी अपना जाड़ा मिटाने के लिए उद्यम किया । आसपास के खेतों से बाड़ उठा-उठाकर ले आए ओर उसी पेड़ के नीचे इकट्ठा कर दिया । अब बंदर कहते हैं कि इतना काम तो कर लिया, पर अभी जाड़ा नहीं मिटा । तो उनमें से एक बन्दर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे, अभी इसमें लाल-लाल चीज तो पड़ी ही नहीं है । सो वे बन्दर आस-पास जो बहुतसी पटबीजना (जुगनू) उड़ रही थीं, सो उन्हें ले आये और बाड़ में डाल दिया । ये लाल-लाल होती हैं ना । अब बन्दर कहते हैं कि अभी जाड़ा नहीं मिटा, तो एक बन्दर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे, उन्होंने लाल-लाल चीज डाली थी, फिर मुख से फूंका भी था । वे सब मुख से फुँकने लगे । अभी जाड़ा न मिटा तो एक बन्दर कहता है कि वे लोग यों कुक्करू आसन लगाकर, हाथ फैलाकर बैठे थे । वे सारे बंदर भी उसी तरह से कुक्करू आसन लगाकर हाथ फैलाकर बैठ जाते हैं, फिर भी जाड़ा नहीं मिटता । अरे जाड़ा कैसे मिटे? मूलतत्त्व जो आग है उसका तो पता ही न था ।

मूल के परिचय का प्रभाव—भैया ! सच जानों कि मूलतत्त्व का पता न होने से कितनी भी क्रियाएँ, आचरण किए जाये, पर उनसे सिद्धि नहीं होती है । अपना मूल लक्ष्य यह होना चाहिए कि मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, जानना मेरा कार्य है, स्वभाव है, यही मात्र मेरा वैभव है, यह शुद्ध आनन्दमय है, मुझे तो केवल ज्ञाता दृष्टा रहना है । किसी भी परिस्थिति में मेरे में भीतर यह श्रद्धा बन जावे कि राग द्वेष के लिए कोई मुझे

प्रेरणा न करे, मेरे में मोह ममता का परिणाम न जगे । मैं तो ज्ञातादृष्टा ही रहना चाहता हूँ । यह जीवन का लक्ष्य बन जाये तो आत्मा का उद्धार सुगम है । इसमें बड़ा बलिदान है, त्याग है । यह सब आन्तरिक तपश्चरण है, इसे चैतन्य प्रतपन कहते हैं । यह तपस्या करते बने जिस ज्ञानी पुरुष से उस ज्ञानी ने अपना मानवजीवन सफल किया समझिये, और जो कायर होकर अपने या दूसरे के शरीर में रागभाव करे, उसने तो अपना यह अमूल्य जीवन खो दिया । जैसे कोई पुरुष समुद्र के किनारे उड़ते हुए कौवे को और उड़ाने के लिए अपने हाथ में रक्खा हुआ रत्न फेंक दे, यों ही समझो कि यह दुर्लभ मानवजीवन व्यर्थ खो दिया । एक निर्णय अपना बनावो निशंक होकर, साहसी बनकर मैं तो केवल ज्ञानस्वभावमात्र हूँ और मेरे को एक काम यही रह गया है कि मैं उस ज्ञानस्वभाव का ज्ञान करता हुआ निर्विकल्प होऊ । यही धर्मपालन है । जिनकी मुक्ति निकट है, धर्म उनको ही प्राप्त होता है, हमें इसका अन्तरङ्ग से यत्न करना चाहिए ।

श्लोक (९७)

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्,
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च थतते,
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ।। ९७ ।।

शरीर की अशुचि और आसक्ति—यह शरीर सर्व ओर से अशुचि है तथा शारीरिक और मानसिक अनेक दु:खों का यह साधन है । लोगों की सर्वाधिक प्रीति इस शरीर से है । मोहीजन सब कुछ त्याग सकते हैं, पर इस शरीर की प्रीति और शरीर के त्यागने में उनके भाव नहीं होता । कदाचित् भी कोई धनहानि करने आ जाए तो वह परिजनों को बचाने का यत्न करेगा । परिजनों पर कोई आक्रमण करने आये या कोई उनकी हत्या करने आए तो सबसे पहिली बात अपने प्राण बचाने की पड़ेगी । सर्वाधिक प्रीति पुरुषों की इस शरीर से है । इस बात का कोई निर्णय नहीं करना है । परीक्षा लेनी हो तो अभी ले लो ।

किसी की चुटकी भर लो, चोटी पकड़कर खींच लो अथवा किसी के भी पास यदि आलपीन हो तो चुभो दो या खुद अपने चुभो लो या अन्य किसी के चुभो दो तो पता पड़ जाएगा कि कितनी ममता है इस शरीर से? कितना खोटा मोहजाल है और एक ओर देखो उन मुनिराज को, जिनको शेर और स्यालिनी खाए, शत्रु परेशान करे, और तो क्या एक मुनिराज के शत्रु ने उनकी खाल को चाकू से छीला था और उस पर नमक छिड़कता जाता था—ऐसी ऐसी कठिन बाधाओं के अवसर में भी वह कौनसा तन्त्र मन्त्र है, वह कौनसा जादू है, जिसके कारण उन्हें रंच वेदना भी नहीं हुई और वे अपने सत्य व परम आनन्दरस में तृप्त रहे । वह तन्त्र मन्त्र है अपने आपका जितना स्वरूप है, उतना ही मानने का ।

कोई पुरुष टूटी हुई झौपड़ी में रहता है । उसे उस झोपड़ी में बहुत ही अनुराग है । झौंपड़ी की जरासी ईंट खिसक जाए तो वह उसमें ही चिन्ता करता है, शोक मानता है । यदि किसी की हवेली की छत भी गिर

जाए तो इस झौपड़ी वाले को कोई शोक नहीं होता । इसका कारण यह है कि उस झौपड़ी वाले को अपनी झौंपड़ी में आत्मीयता है और उस हवेली में आत्मीयता नहीं है ।

सकल क्लेशों का निमित्त शरीर—अहो ! इस देह के साथ इस जीव का कितना विकट बंधन है? यह बंधन ही समस्त दु:खों का मूल है । हम देह में बंधे हैं हमारी मूर्तदृष्टि बन गयी है, हम पैनी ज्ञानछेनी से अपने आपका भेद नहीं कर पाते हैं और अपने सहज प्रकाश में मग्न नहीं हो पाते, इस ही अपराध के कारण विकल्पजाल चल रहा है । अनेक दु:खों का निधान ही यह शरीर है । अनेक क्या, जितने भी जग में क्लेश हैं, उन सब क्लेशों का मूल कारण यह शरीर है । रोग भूख आदि का कारण शरीर का संबंध है । कोई भी गाली सुनकर, अपयश की बात सुनकर जो अपमान अनुभव किया जाता है, उसका कारण यह है कि इस शरीरपिंड को माना कि यह मैं हूँ । बस इस देह की ममता के कारण इसने अपमान महसूस किया । यदि यह भान होता कि मैं तो नामरहित, ज्ञानमात्र, आकाशवत्, निर्लेप केवल ज्योतिस्वरूप हूँ तो वह अपमान क्यों महसूस करता? सुख का मार्ग बहुत सुगम है, स्वाधीन है और अपने में हैं, पर उस मार्ग पर आने की कला मिले, तब ही ना । कला न मिले तो यह दुर्गम है ।

स्वनिधि के अपरिचय की दरिद्रता—अपने ही घर में गड़ा हुआ धन यदि विदित नहीं है तो वह तो गरीबी ही अनुभव करेगा और कदाचित यह विदित हो जाए कि मेरे घर में इस जगह बहुत बड़ी निधि गढ़ी है तो अभी मिलने में देर है, लेकिन उस निधि का परिचय होते ही अन्तर में एक ठसक सी आ जाती है, एक बड़प्पनसा अनुभव होने लगता है । जब तक इस जीव को अपने आपमें बसी हुई ज्ञान और आनन्द की निधि का परिचय नहीं होता हैं, तब तक यह गरीब है । यह बाह्यपदार्थों में आशा कर करके दु:खी होता रहता है ।

आश्चर्य इस बात का है कि दु:खी भी होते जाएं और उसी दु:ख को पसन्द भी करते जाते हैं । यह सब मोह की लीला है । जैसे घर में कभी बड़ी कलह हो जाए और अनेक प्रतिकूलताएं हो जाएं तो यह पुरुष चाहता है, ऊब करके कहता है कि इस घर से तो जंगल में रहना भला है । अब इस घर में मैं न रहूंगा और फिर रहता वह घर में ही है । चाहे कितनी ही विपदा आ जाए, यह सब क्या है? एक व्यामोह है । अच्छा तो घर छोड़कर कहां जाए ? सुख शांति ज्ञान पर आधारित है । वह ज्ञान तो बसाया नहीं, उस वस्तु की स्वतंत्रता का तो दृढ़ निर्णय किया नहीं—ऐसे ही धर्म व्यवहार क्रियाओं को करके यह मन कहां तक स्थिर रह सकेगा, कहां जाएगा? इस जीव की बड़ी विचित्र दशाएं है ।

संसार में अशरणता—एक बार राजा भोज की सभा में बहुत से पण्डित बैठे थे । एक पण्डित के पिता भी बैठे हुए थे । राजा ने पण्डित के पिता से एक समस्या पूछी, किन्तु वह तो मूर्ख था, पढ़ा लिखा न था । कोई यह नियम तो नहीं है कि पण्डित का बाप भी पण्डित हो वकील का बाप भी वकील हो, डाक्टर का बाप भी डाक्टर हों—ऐसा कुछ नियम तो नहीं है । वह तो मूर्ख था । तो पिता अपने लड़के कहता है—'पुरा रे बापा ।' बापा पुत्र को किसी देश में कहते हैं । इसकी पूर्ति कर दे रे ! लड़का होशियार था । उसने पिता की मूर्खता छिपाने के लिए पुरा रे बापा कहकर ही श्लोक बना दिया—

श्लोक (९८)

पुरा रेवापारे गिरिरतिदुरारोह शिखरे,
गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः ।
धनुःपाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशं,
क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति ।। ९८ ।।

उसने तो पुरा रे बापा कहा था, इसके आगे रे और लगाकर उसने पुरा रेवा पारे बना दिया, इसका अर्थ है कि रेवा नदी के तट पर हिरण का बच्चा खड़ा हैं और जंगल व पर्वतों में आग लगी हुई है और पीछे से १०० शिकारी चतुर बाण लिए हुए उस हिरण के बच्चे का पीछा कर रहे हैं मारने के लिए । उस समय वह हिरण का बच्चा अपने मन में यह सोचता है कि ''क्व यामः कि कुर्मः ।'' अर्थात् मैं कहां पर जाऊं और क्या करू? बड़ा ही विलाप करता है । उससे अधिक विपत्ति हमें ही है, जो तनिकसी विभूति से सुखरस में मग्न हो रहे हैं, विषयसाधनों को पाकर अपने को प्रभु से कम नहीं समझते हैं ।

संसारीजीव पर विपदा का बोझ—संसारी जीवों पर बहुत बड़ी विपदाओं का बोझ है । भला बताओ आज वह मनुष्य है, अच्छा शरीर है, श्रेष्ठ मन है और मरकर हो गए कानखजूरा तो कितना अन्तर हो गया? कहां, तो मनुष्य और कहां यह कानखजूरा । मरकर हो गए पेड़ पौधे, अब तो अंगोपांग भी नहीं रहे, जिह्वा भी नहीं रही, यह क्या जीव पर कम विपदा है ? वह जीव विलाप करता रहता है कि मैं कहां पर जाऊं और मैं क्या करूँ? सारे दुःखों का निधान यह शरीर है । जितने भी कष्ट हैं, सब इस ही शरीर के कारण होते हैं और जिसके कारण कष्ट होते हैं, उसमें ही हम प्रीति रखते हैं ।

शरीर से छुटकारे के उपाय की जिज्ञासा—अभी कोई पूछ तो दे कि मैं क्या करूँ महाराज? यह अपना गला घोट दे क्या? इस शरीर से अलग हो जाए क्या? मरण कर ले क्या? शरीर जब क्लेशों का कारण है तो क्या करे ? देखिए जब कभी दुष्टों के संग में फंस जाते हैं तो वहाँ अपनी ऐंठ को बताने से काम नहीं निकलता । वहाँ जो मधुराई से और धीरे से यत्न द्वारा वहाँ से छूटे तो निकल सकते हैं । ऐसे ही कोई सोचे कि यह शरीर दुःखों का कारण है, इसलिए शरीर का घात कर दें, प्राण तज दें तो यों तो शरीर का पिंड न छूटेगा । यह शरीर छूट जाएगा, किन्तु फिर दूसरा लेना पड़ेगा और वह इससे भी गया बीता होगा और कष्ट कई गुणित सामने आ ही जायेंगे । इसका छुटकारा पाने का प्रथम उपाय ज्ञानभावना भाना है । मैं शरीर से न्यारा केवलज्ञानस्वरूप हूँ ।

प्रभुस्वरूप के ध्यान से अध्यात्म साहस—हे प्रभो ! तुम शरीर से न्यारे ज्ञानमात्र हो, कोई मुझमें तुम्हारी अतिशय भक्ति बने, हमारे गुण का तीव्र अनुराग जगे तो मुझमें ज्ञान भावना का बल बढ़ेगा । अहो ! यह शरीर सर्वप्रकार अशुचि है, बहुत दुःखों से व्याप्त है । इसमें रहते हुए यह मनुष्य विरक्त तो होता नहीं, उल्टा अधिकाधिक प्रीति ही करना है । जिसने न जाना अपने आत्मा के सहजस्वभाव के अनुभव का आनन्द, वह

तो बाहरी पदार्थों की आशा प्रतीक्षा भोग आदि करके ही अपने को सुखी मानने का यत्न करेगा । क्योंकि इसने खाया हुआ है अपने उपयोग में परद्रव्यों की प्रीति का भोजन । इसे कैसे रुचेगा बढ़िया आनन्द का भोजन ?

विषयक्षारवमनपूर्वक आत्ममाधुर्यानुभव—दो चींटियां थीं । एक चींटी तो नमक वाले की दुकान में रहती थी और एक शक्कर वाले की दुकान में रहती थी । एक तो रोज शक्कर खाये और एक रोज नमक खाये । एक बार नमक की दुकान में रहने वाली चींटी के पास शक्कर वाली चींटी गई और बोली बहिन ! तुम यहाँ रोज खारी क्यों खाती हो, हमारे साथ चलो हम सदा मीठा ही तुम्हें खिलावेंगी । उसे विश्वास न हुआ । उसके बहुत-बहुत समझाने पर वह चली तो सही, पर मुख में एक नमक की डली लेकर चली, ताकि वहाँ भूखों न मरना पड़े । जब वहाँ दोनों चींटियों ने जाकर शक्कर का स्वाद लिया तो शक्कर में रहने वाली चींटी पूछती है—कहो बहिन, कुछ मीठा स्वाद आया? तो वह बोली नहीं आया । फिर पूछा कि तुम्हारे चोंच में कुछ रक्खा तो नहीं है । बोली, हां एक नमक की डली रक्खी है । वह इसलिए ले आयी हूँ कि मुझे कहीं उपवास न करना पड़े । तो शक्कर में रहने वाली चोटी बोली—अरे नमक की डली को मुख से निकाल दे तब स्वाद ले । उसने नमक की डली को मुख से निकाल दिया, तब स्वाद लिया तो स्वाद आया । अब शक्कर में रहने वाली चींटी पूछती है—कहो बहिन अब कुछ स्वाद आया? तो वह बोली, हां बहिन बड़ा स्वाद आया । नमक में रहने वाली चींटी पूछती है—कहो बहिन ऐसा मधुर स्वाद तुम कब से ले रही हो ? तो वह बोली कि हम तो रोज-रोज ऐसा मधुर स्वाद लिया करती हैं । ऐसे ही जानों कि ये विषय विष जब तक रुचते रहेंगे तब तक आत्मीय सहज आनन्दरस में प्रीति नहीं जग सकती । जिसे आत्मीय आनन्दरस में प्रीति नहीं जग सकती, उसको प्रभु में भक्ति भी नहीं हो सकती । वह प्रभु की महत्ता जानेगा ही क्या?

अशुचि शरीर का दुरुपयोग—ये जगत् के प्राणी इस अशुचि शरीर से विरक्त नहीं होते । इन कर्मों ने तो इसे मानों इसलिए यह अशुचि शरीर दिया कि इस शरीर से शीघ्र विरक्त हो जाये, किन्तु यह संसारी ऐसा सुभट निकला कि ऐसे गंदे शरीर में रहते हुए भी विरक्ति नहीं कर सकता । मुनिजन इसे समझाते हैं—मानों बड़ी करुणा करके समझा रहे हैं, जैसे कोई बालक आग को ही बारबार हाथों से पकड़ना चाहे या मिट्टी ही बार-बार खाते रहने की आदत बनाये तो उसकी मां उसे थप्पड़ मारकर डाटकर इसकी आदत को छुटाती है । ऐसे ही यद्यपि गृहस्थजनों को साधुजनों का उपदेश नहीं रुचता, लेकिन ये साधुजन फिर भी करुणा के कारण बारबार बताते ही तो चले जा रहे हैं । यह जीव कभी तो सुलझेगा ही । वे मुनिजन इस व्यामोही जीव को शरीर से विरक्त करने का यत्न कर रहे हैं । जैसे अपना स्वार्थ सधे तैसे तो सुख देने वाले बहुत हैं, किन्तु मुनिजनों का क्या स्वार्थ सध रहा है ? उपदेश देकर, यथार्थज्ञान कराकर, संसार शरीर और मन से विरक्ति उत्पन्न कराकर इनका कौनसा स्वार्थ सध रहा है? ये साधुजन नि:स्वार्थ है । इस जगत् के जीवों पर करुणा करके भगवान की परम्परा से चली आयी हुई पद्धति के अनुसार उपदेश दिया करते हैं । इस शरीर में आसक्त मत हो ।

शरीर शृङ्गार की व्यर्थता—कोई लोग तो इस शरीर को गहनों से सजाकर, सफेद राख आदि कोई चीज लपेटकर अनेक तरह से इस शरीर को सजाते हैं । न जाने क्या दृष्टि है उनकी ? अरे किसको प्रसन्न करने के लिए शरीर को सजा रहे हैं? जगत में दो तरह के लोग हैं—कुछ तो दुष्ट और कुछ सज्जन । ऐसे बनावटी सजे हुए शरीर को देखकर कोई दुष्ट अज्ञानी अभिलाषी कामी भले ही कुछ अच्छा कह दे, किन्तु सज्जन, ज्ञानी विरक्त तो उसे मूर्ख ही कहेंगे । कैसी बाह्यदृष्टि बनी है, कितना मोह ममत्त्व में ध्यान बढ़ाया है कि ऐसी कृत्रिमता, ऐसी बनावट करते हैं जिससे दुनिया को यह दिखाना चाहते हैं कि मेरा शरीर कितना सुन्दर है ।

सुन्दरता में क्लेशकारणता—सुन्दर किसे कहते हैं? इसमें तीन शब्द हैं—सु उन्द् और अर । सु का अर्थ है, भली प्रकार, उन्दी क्लेदने धातु है । जो अच्छी प्रकार कष्ट दे, उसे सुन्दर कहते हैं । मगर दुनिया ने यह जाना कि सुन्दर के मायने हैं कोई उत्कृष्ट चीज । इसी से लोग अपने प्यारों का भी नाम सुन्दर रखने लगे । किसी को विदित नहीं है कि सुन्दर शब्द का भीतर में अर्थ क्या है? और यह बात ठीक भी है । जो जितना मन:प्रिय हो, इष्ट हो, अभीष्ट हो वह पदार्थ इस जीव को धीरे-धीरे तड़फाकर दु:खी करने का ही कारण बनता है । इस कारण उन अभीष्ट पदार्थों का सुन्दर नाम लेना यथावत् ठीक है । अहो, कितनी भूल लदी हुई है इस उपयोग में? कितनी बातें बसी हुई हैं? सब लोग अपनी-अपनी जानें । किसी की चिन्ता पुत्र स्त्री वैभव धन कुछ न कुछ अनेक ऐसी बातें बसी हुई हैं । वे उनसे अपने को हटा नहीं पाते हैं, ऐसा उनका अयोग्य उपादान है ।

संकटहारिणी ज्ञानभावना—सब संकटों को दूर करने का उपाय ज्ञानभावना है । मैं ज्ञानमात्र हूँ, सबसे निराला हूं—ऐसी बारबार भावना बनाएँ और अपने आपमें इस ज्ञानस्वरूप को ही निरखा करें । इससे ही संकट दूर होंगे । बाहरी दिखावे की प्रवृत्तियों से क्लेश दूर नहीं होते । एक बुढ़िया थी । वह अपने घर में पतले गोबर से लीप रही थी । वह गोबर को जमीन पर डाल दे और उसमें काफी पानी डालकर उसे बिल्कुल पतला बना दे, फिर उसे उसी जमीन पर लीपे । तो वह बुढ़िया शायद जैनी होगी । सो गोबर से लीपती जाये और कहती जाये—'चींटीचींटा चढ़ो पहाड़, तुम पर आइ गोबर की धार । तुम न चढ़ो तो तुम पर पाप, हम न कहें तो हम पर पाप ।।' तो ऐसे पापों के दूर करने की क्रियावों से तो काम नहीं चलता । आन्तरिक भेदविज्ञान के द्वारा पर से उपेक्षा करके अपने को ज्ञानमात्र भावने में चिरकाल तक बनाएँ तो उससे सिद्धि होती है । इस छंद में यह शिक्षा दी है कि इस शरीर से प्रीति छोड़ो और खुद जो ज्ञान शरीरी है उस अन्तस्तत्त्व में प्रीति करो ।

श्लोक (९९)

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन,
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तभुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य,

सर्वापदां पदमिदं जननं जनानान् ।। ९९ ।।

साधु संतों का करुणाप्रेरित उपदेश—संसारी प्राणी इस शरीर से विमुख नहीं होते हैं । शरीरकृत अनेक उपद्रव उपसर्ग सहते हुए भी शरीर से विरक्त नहीं होते हैं । साधुजन, ज्ञानीपुरुष इस जीव को शरीर के विमुख करने के लिए नाना प्रकार से उपदेश देते हैं । साधु संतों को इतनी अधिक शरीर की बुराई करने की क्या पड़ी है, और जीवों को शरीर से विमुख करने की क्या पड़ी है? इसके उत्तर में यह छन्द कहा जा रहा है, बहुत क्या कहे इस संसार में शरीर को बार-बार भोगा और छोड़ा । जितना कुछ कहा जाये, इस शरीर के कारण होने वाले क्लेशों का और क्लेशों का कारण होने से शरीर की असारता को जितना भी कहा जाये वह सब थोड़ा है । यह शरीर सर्व विपत्तियों का स्थान है ।

नारकशरीर का क्लेश—नरकगति में जो क्लेश नारकी भोगते हैं, वह सुनने में भी बड़ा असह्य लगता है । वे नारकी जीव एक दूसरे को जब देखते हैं तो देखते ही नारकियों पर ऐसा टूट पड़ते हैं जैसे कोई कुत्ता किसी नवीन कुत्ते को देखे तो वह उस पर टूट पड़ता है । ये नारकी जीव पैदा होते हैं किस स्थान से? जो पृथ्वी का भाग है उसमें तिकोने चौकोने विकराल कुछ स्थान बने हैं । उन स्थानों से यह जीव नारकी होकर सिर के बल औंधा गिरता है । जमीन पर गिरने के बाद यह कितनी बार उछलता है और गिरता है । इन नारकियों को जन्मते ही महाक्लेश मिलते हैं उस दु:ख से कुछ विराम पाया वह नारकी भूमि में कुछ स्थिर हुआ कि एकदम दूसरे नारकी उस पर टूट पड़ते हैं । नारकी जीव दूसरे को सतायें वहाँ उन्हें कोई हथियार लाठी वगैरह नहीं खोजने पड़ते हैं । उनकी इच्छा हुई कि मैं इसे तलवार मार दूँ तो इस इच्छा के साथ ही हाथ के उठाते ही हाथ तलवार का रूप रख लेते हैं । जितने भी शस्त्र वे चाहें मारने के लिए वे शस्त्र उनके हाथ ही बन जाते हैं, ऐसा उनका वैक्रयिक शरीर है ।

नरकभूमि—नरक में रात दिवस बराबर होते हैं । रात दिवस के वहाँ विभाग तो हैं नहीं । न रात है न दिन, किन्तु जहाँ जितना अँधेरा है प्रकाश है वहाँ उतना ही अँधेरा प्रकाश है । पहिली पृथ्वी में अर्थात् पहिले नरक में रत्न जितना ही मात्र प्रकाश है । जैसे कोई रत्न इतना ही भर चमकता है कि यह मालूम पड़ जाये कि यहाँ रत्न रखा है । कहीं दीपक की तरह उसका प्रकाश नहीं होता है । कुछ थोड़ासा और प्रकाश हो गया । जैसे कि रात को देखने वाली घड़ी होती है, उसमें जैसा प्रकाश है उतना ही मात्र पहिले नरक में प्रकाश है । इस नरक का नाम है रत्नप्रभा । दूसरे नरक में शरीर की जितनी आभा है । शक्कर सफेद होती है, उसके आभा क्या रहती है ? क्या अंधेरे में दिख जाती है ? हां सम्भव है कि कुछ दिख जाये । इतना ही मात्र जहाँ प्रकाश है बस यही है दूसरे नरक की स्थिति । तीसरे नरक में अंधेरा शुरू हो गया । जैसे बालू की रेत होती है, उसमें कहां उजाला है ऐसा ही अंधेरा तीसरे नरक में हैं । चौथे नरक में कीचड़ जैसा अंधेरा है । ५वें नरक में धुवां जैसा अंधेरा है । छठवें नरक में जितना कृष्णपक्ष में अंधेरा रहता है उतना है, और ७वें नरक में घोर अंधेरा है ।

नरकभूमि का कष्ट—नरकों की भूमि इतनी करन्ट वाली है इतनी कठिन है कि उस जमीन के छूते ही

हजारों बिच्छू काटने जितना कष्ट होता है । यह शंका न करना कि क्या नरक में भूमि ऐसी ही दुःसह कि उस भूमि के छूने से ही हजारों बिच्छुवों के काटने जैसा दुःख होता है । जैसे किसी जगह जमीन पर या भींत में बिजली का करेन्ट आ जाये तो वहाँ पर पड़े हुए लोग ही उसके दुःख को जान सकते हैं, ऐसे ही नारकी जीवों को कितने कष्ट हैं, उसे वहाँ के नारकी ही जान सकते हैं । ऐसे भयंकर दुःसह कष्ट नारकी जीव भोगते रहते हैं ।

नारकियों को विपरीत ज्ञान—तीसरे नरक तक तो कुछ कलहप्रिय देव, जो कि असुर जाति के देव हैं वे जाकर नारकियों को भिड़ाते हैं कि तुमको पूर्वभव में इसने ऐसा कष्ट दिया था, याद दिलाते हैं, उसका कठिन क्लेश भोगते हैं और उन नारकियों को भी ऐसा ज्ञान होता है, चाहे पूर्व भव में माता ने पुत्र की आंखों में काजल लगाया हो अथवा सलाई से अंजन लगाया हो, लेकिन यह पुत्र का जीव और मां का जीव नरक में पहुंचे तो पुत्र का जीव ऐसा ज्ञान करेगा कि इसने मेरी आखें फोड़ने के लिए आंखों में सलाई डाली थी, अंगुली घुसेड़ी थी ।

विशेष दुःख के लिये नारकशरीर की विशेषता—ये नारकी जीव एक दूसरे के शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े कर डालते हैं, लेकिन असाता वेदनीय का कितना तीव्र उदय है कि वह शरीर तिल-तिल बराबर खंडित हो जानें पर भी बहुत ही जल्दी पारे की तरह मिलकर पूरा शरीर बन जाता है । ऐसे दुःसह दुःख इन जीवों ने हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील, परिग्रह मिथ्यात्व मोह, ममता, अहंकार—इन सब अपराधों के कारण सहे हैं । देखो इन सब दुःखों का कारण यह शरीर ही तो हुआ । शरीर सब विपत्तियों का स्थान है ।

क्लेश का कारणभूत निगोदशरीर—कठिन नरक गति से भी निकृष्ट पर्याय है तो निगोद जीवों की । जो हम आपको यहाँ नजर नहीं आते वे प्रायः वनस्पतिकाय के आश्रय से रहते हैं । किन्तु निराधार भी बहुत जगह रहते हैं । त्रस जीव, मनुष्य तिर्यंचों के, कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यंचों के शरीर में भी बना करते हैं । दो इन्द्रिय आदिक जीवों के शरीर में भी निगोद रहते हैं । इनका काम एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करना है । श्वास वास्तव में नाम है नाड़ी के फड़कने बराबर कील का, क्योंकि श्वास पेड़ों में भी पायी जाती है । जिनके मुख नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय जीवों के भी श्वासोच्छवास पाया जाता है । हम आपके जितने रोम के छिद्र है उनसे उतनी श्वासोच्छवास चलती है और उतने से ही क्या, सर्वशरीर से चलती है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति—इन सबके सारे शरीर से श्वास का निकलना और लेना यह बराबर चलता रहता है । एक सेकेण्ड में २३ बार निगोदिया जीवों का जन्म और मरण होता है ।

निगोदशरीर के क्लेशों का उद्भव—जन्म ही का नाम मरण है, मरण ही का नाम जन्म है । चाहे मरण कह लो चाहे जन्म कह लो, बात एक ही है । जैसे यह अंगुली सीधी है इसे टेढ़ी कर दे तो चाहे यह कह लो कि अंगुली टेढ़ी कर ली और चाहे यह कह लो कि अंगुली की सीध मिट गयी । दोनों का एक ही अर्थ है । सीध का मिटना, टेढ़ का बनना आदि दोनों का एक ही मतलब है । पूर्वभव की आयु का अलग होना, और नवीन भव की आयु का प्रारम्भ होना दोनों का एक समय है । निगोदिया जीव एक सेकेण्ड में २३ बार

जन्म मरण कर लेता है । यहाँ तो लोग यश कीर्ति विषयसाधन आदि अनेक खटपट और कलावों के लिए अपनी बुद्धि और विवेक लगाते हैं । उन निगोद जीवों की कौन सुने एक कवि ने कहा है—

जो लोग किसी के सुख से सुख मानते हैं, किसी के दुःख से दुःख मानते हैं, इतने व्यामोही हैं, वे निगोद जानें की तैयारी में इस बात का अभ्यास कर रहे हैं, क्योंकि वहाँ तो एक जीव की श्वास जब चले, तब ही वहाँ बसे हुए अनन्त जीवों की श्वास चले । जब एक जीव मरा, उसी समय अनन्त जीव मरे ।

एक साथ जन्मना और एक साथ मरने का अभ्यास मोहीजन यहाँ कर रहे हैं । कहीं निगोद में जाना पड़े तो उसके अभ्यास में कसर नहीं रह जाए । अपने विषयसाधन में किसी के सुख में सुख मानना और किसी के दुःख में दुःख मानना तथा इतना अधिक तीव्र व्यामोह का होना—यह दुर्गति का ही तो काम है ।

विशिष्ट तिर्यंचों का क्लेश—कभी सुयोग से निगोद से निकला तो अन्य स्थावर, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय में उत्पन्न हुआ । अब आप हम सब अपने बारे में ऐसा चिन्तन करते जायें कि इतना तो निश्चय हो ही गया ना कि हम लोग निगोद से निकल आये । अनन्त जीव तो ऐसे हैं जो निगोद से आज तक भी नहीं निकले हैं और इतना तो विश्वास है कि विकल्पजालों से भी निकल आए । अब यह जीव पञ्चेन्द्रिय, मनरहित पञ्चेन्द्रिय विकल्पों की भांति ही समझ लीजिए, वे अपना हित करने में असमर्थ हैं और सैनी भी हुए, क्रूर जानवर पशु पक्षी हुए तो वहाँ भी क्रूर पशुपक्षी हुए तो कौनसा लाभ पा लिया नारकियों की दशा और अवस्था तो सुन ही रक्खी है । तिर्यंचों के दुःख सुन रक्खे हैं । बाजारों में देख लो कि जहां मैदा, दाल वगैरह बिकते हैं एक ठेले में जिसमें एक भैंसा जुतता है, ४० बोरे तो शायद रख लेते हैं, इतना हमारा अन्दाजा है और उनका वजन करीब ९० मन तक होती होगी । इतना विकट बोझ एक भैंसा लादे चला जा रहा है और वह भैंसा भी कैसा कि जिसकी गर्दन फूटी हुई है, खून बह रहा है, फिर भी कंधे पर जुवा जोत दिया और कटघरे के भीतर जकड़ दिया चारों ओर से । क्या करे अब वह बेचारा ? न चले तो चाबुक लग रहे हैं । अरे वे भी तो हम आप जैसे ही जीव हैं । हम आपने भी ऐसी पर्याय पाई होगी, क्लेश भोगे होंगे । उन दुःखों का कौन वर्णन कर सकेगा, वे ही जानें । उनके भूख लगी है, मालिक की मर्जी हुई तो भुस डाल दिया, जब मालिक की मर्जी हुई तो पानी पिला दिया ।

मनुष्यभव की उपयोगिता का बेसुधपना—इस मनुष्यभव में इतनी पराधीनता तो नहीं है फिर भी यह मनुष्य पाये हुए पुण्य, पाये हुए समागम में सन्तोष नहीं कर सकता है । यह भी तृष्णा के वशीभूत हुआ अपने को पराधीन अनुभव करता है । मनुष्यों के दुःख तो बहुत कुछ अनुभव किए हुए हैं और नजर आ रहे हैं । यह मनुष्य बचपन में अज्ञानी रहा, जरा कुछ बड़ा हुआ तो स्वच्छन्दता से खेलकूद में अपना समय खो दिया । बड़ा हुआ, विवाह हुआ, बच्चे हुए, चिन्ताएँ चलीं, रोग शोक आदिक अनेक क्लेश हुए, बुढ़ापे में शिथिल हो गए, चलने फिरने से भी लाचार, एक जगह पड़ा रहना चाहता है, ऐसे दुःसह दुःख में यह मनुष्यभव बिताया गया है । कैसे कल्याण करें ?

अवसरों का अनुपयोग—एक सेठ की राजा से बड़ी मित्रता थी । सेठ हो गया दुर्भाग्य वश बहुत गरीब,

तो अपने मित्र राजा से क्या मांगता है ? हे राजन् ! अब दरिद्रता का दुःख तो नहीं सहा जाता है, कुछ उपाय लगावो । तो राजा कहता है कि जावो कल दिन में एक बजे से तीन बजे तक के लिए आज्ञा देता हूँ कि हीरा जवाहिरात के खजाने से जितने हीरा जवाहिरात ला सको, ले आना । सेठ पहुंचा हीरा जवाहिरात के खजाने में । राजा ने खजांची को पहिले ही सूचित कर दिया था कि दो घंटे के अन्दर सेठ जितना हीरा जवाहिरात ले जा सके, ले जाने देना । जब वह खजाने के भीतर गया तो कहीं एक ही जगह छोटे कमरे में न थे हीरा जवाहिरात । बहुत बड़ा मैदान था, अनेक कमरे थे । बहुत सुन्दर-सुन्दर खेल खिलौने थे, इन खेल खिलौना को देखा तो उनमें ही उसका बड़ा मन लग गया । उन खेल खिलौनों में ही रमते हुए तीन बज गए । चपरासी ने खजाने से बाहर निकाल दिया । सेठ रोता हुआ राजा के पास पहुंचा । बोला, महाराज आज तो खजाने से हम कुछ भी नहीं ला सके । राजा ने दूसरे दिन के लिए १ बजे से तीन बजे तक के लिये आज्ञा दी कि सोने के खजाने से जितना चाहे सोना ले आना । पहुंचा सेठ दूसरे दिन । वहाँ एक से एक सुन्दर घोड़े बंधे हुए थे । सेठ घोड़ों का शौकीन था । उनमें ही रम गया, किसी घोड़े पर बैठ कर उसकी चाल देखने लगा । इसी में ही दो घंटे का समय व्यतीत हो गया । सेठ वहाँ से भी कुछ न ले जा सका । फिर राजा के पास पहुंचा । बोला महाराज आज भी कुछ नहीं ला सके । राजा ने तीसरे दिन चांदी, खजाने में जानें की आज्ञा दी, एक बजे से तीन बजे तक के लिए । वहाँ पहुंचा सेठ तो देखना है कि बड़ा, सुन्दर मैदान है । कमरों में बड़ी अच्छी सजावट है । अनेक एक से एक सुन्दर नारियों के चित्र थे, वहाँ रहने वाली अनेक सेविकाएं थीं । इन सबमें ही उसका चित्त रम गया । दो घंटे का समय व्यतीत हो जाने पर चपरासी ने निकाल दिया । फिर राजा के पास वह सेठ पहुंचा । राजा ने चौथे दिन के लिए फिर ताम्बा, पीतल के खजाने में जाने की और जितना ढोकर ला सके लाने की आज्ञा दे दी । वहाँ सेठ पहुंचा तो देखा कि बड़े भारी एरिया में एक से एक सुन्दर पलंग पड़े हैं । वह पलंग विलक्षण स्प्रिंग वाले थे । विलक्षण उनमें कोमलता थी । उनमें से एक पलंग पर वह लेट गया देखने और दो मिनट में सो गया । सोते-सोते ही तीन बज गए । वहाँ से भी चपरासी ने उसे बाहर निकाल दिया ।

मनुष्यभव के अवसरों की उपयोगिता का बेसुधपना—ऐसे ही यह खेल खिलौनों में समय गुजार देता है । किशोर अवस्था में अनेक कलावों में, खेलों में, प्रायोगिक खेलों में समय बिता देता है । जवानी में यह वासनावों में समय गँवा देता है । बुढ़ापे में खाट पर पड़ा हुआ, कराहता हुआ समय गुजार देता है । हित इसने कहां कर पाया ? देवगति में भी अनेक कष्ट रहे । वे कष्ट थे ऊधम के और मन के । एक दूसरे की सम्पदा को देखकर वे सह नहीं सकते, ईर्ष्या करते हैं, जलते हैं । अपनी हीनता निरखकर निरन्तर, कष्ट भोगते हैं । उनका भी क्या जीवन? इन सब क्लेशों का कारण यह शरीर है । जिस जीवने जो भी कष्ट भोगा उस कष्ट का आधार, माध्यम यह शरीर है । हे आत्मन् ! तू अनादि काल से शरीर धारण करके दुःख भोगकर और उनको छोड़कर कैसे-कैसे शरीरों को धारण करता है, हम तुम से केवल इतना ही कह रहे हैं संक्षेप में कि जितने भी संसार में क्लेश होते हैं उन क्लेशों का कथानक यह शरीर है । इस कारण तू शरीर

से विरक्त हो ओर जिस प्रकार शरीर का सम्बन्ध छूटे, सदा के लिए क्लेशों से छुटकारा मिले, वह यत्न कर ।

दुष्ट से छुटकारा पाने का गंभीर उपाय—भला किसी दुष्ट मित्र से पाला पड़ गया हो तो उस मित्र से छुटकारा पाने का क्या उपाय रचा जाता है? जब मालूम पड़ जाये कि यह मेरे साथ कपट करता है तो उससे उपेक्षा भाव हो जायेगा और यही उपेक्षा भाव उस दुष्ट मित्र से छुटकारा दिला देगा । ऐसे ही इस शरीर का बन्धन लग गया है तो इससे छूटने के उपाय में प्रथम क्या करना होगा कि इस शरीर का स्वरूप और अपना स्वरूप जानना होगा । यह शरीर केवल दुःखों का आश्रय है । यह मैं आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप को लिए हुए हूँ । ऐसा शरीर में और आत्मा में अन्तर जानकर शरीर से उपेक्षा करना और आत्मा में रुचि करना यह अपना कर्तव्य होगा । हे भव्य आत्मन् ! इस शरीर को विपदा का स्थान जानकर इसमें मोह तो मत कर—यही मैं हूँ ऐसी प्रतीति तो न बना । इस शरीर से न्यारा ज्ञानानन्द स्वरूप मैं सत् हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, अजन्मा हूँ । उस निज अंतस्तत्त्व का आश्रय करो । इस पुरुषार्थ से ही तेरे समस्त क्लेश दूर होंगे ।

श्लोक (१००)

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्-
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्याः ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो,
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ।। १०० ।।

गर्भतः मनुष्यों के क्लेश—हे प्राणी ! तू माता के उदर में जो कि मल मूत्र का स्थान है वहाँ कर्मों के आधीन हुआ बहुत समय पर्यन्त बढ़ने के लोभ से जो मां ने चबाया, खाया उसे मुखरूपी छिद्र से उठाकर खाया । मां कोई बूंद मेरे मुख में पड़ जाये । यह जीव जब गर्भ अवस्था में आता है तब मां के पेट में रहता हुआ इस बात की चाह किये रहता है कि कोई बूंद मेरे मुख में भी आ जाये, पर वहाँ खाने को कुछ मिलता नहीं है । किसी नली द्वारा जो बच्चे की नाभि से लगी रहती है और मां के पेट से किसी स्थान से जुड़ी रहती है उसके द्वारा ही कुछ आहार ले लेता है । मुख तो बंद रहता होगा । वह बालक गर्भ अवस्था में भूख और प्यास से पीड़ित रहता है । यह अपने दुःख की बात कही जा रही है । हम आपको याद नहीं है । गर्भ में रहे तब कैसे दुःख सहे, शायद किसी को भी याद न होगा । और तो जाने दो, गर्भ से निकला और एक दो साल तक जो बीती होगी उस तक की भी याद नहीं है ।

बचपन के क्लेश—बचपन के दुःख का कुछ अनुमान करो । जैसे अभी हम आपको कोई किसी संदूक में बंद कर दे, जहाँ हवा न मिले, पानी पीने को भी कोई न पूछे तो कैसा गुजरेगा ? मां का पेट तो पूरा संदूक है इस गर्भ वाले बालक के लिए । पड़ा है सिकुड़ा हुआ, किस तरह से भिचा हुआ वह गर्भ में रहता है, उसके दुःख की बात वही जाने । जब निकलता है गर्भ से तब उसे कुछ आंखों से दिखता होगा जो कुछ भी,

बोल तो सकता नहीं । पर सब कुछ अचम्भे की बात नजर आती होगी । क्या है ? जब उत्पन्न होते ही बच्चा रोता है तो उसकी आवाज कहां-कहां इस तरह हुआ करती है ना रोते में? तो कवि लोग यह कहते हैं कि वह बच्चा यह सोच रहा है कि अब मैं कहां आ गया? उसे तो सारी बात नई मालूम होती है । प्रकरण चल रहा है कि संसार में जितने भी क्लेश हैं वे इस शरीर के कारण हैं । जीव का शरीर से सम्बन्ध है इसी से सारे दुःख है, लेकिन यह उन दुःखों को सुख मानकर इस ही दुःख में रम रहा है । गर्भ में बच्चे को रहने के लिए कितनी जगह है? हम आप तो एक पूरे कमरे में भी रहते हुए सोचते हैं कि हमारे रहने का स्थान बहुत छोटा है और पेट में कितना स्थान मिलता है इस बच्चे को रहने के लिए? सिकुड़ा रहता है । उसके पास कहीं इतना भी स्थान नहीं है कि थोड़ासा सरक तो ले, कभी करवट बदल तो ले ।

गर्भस्थ बालक के आन्तरिक क्लेश—गर्भस्थ बालक इतना अशक्त है, लेकिन मन उसको तभी से है जब से गर्भ में आया । शरीर चाहे गर्भ में तीन चार महीने तक कुछ पूर्ण बन भी नहीं पाता होगा, लेकिन मन बराबर उसी दिन से है जिस दिन से बालक गर्भ में आया है, और मन से विचारने के दुःख, कल्पनाएँ करने के दुःख चल रहे हैं । पेट में थोड़ासा स्थान है वहाँ बच्चे का हलन चलन बनता नहीं है । उस बच्चे के साथ कौन है वहां? पेट मे कोई कीड़े वगैरह हों तो वे ही उसके साथी हो सकते हैं और कीड़े होते ही हैं हमारे आपके सबके पेट में । किसी न किसी प्रकार के किसी रूप में बने ही रहते हैं त्रसजीव । वे ही मात्र उस जीव के साथी समझिये । ऐसी गर्भअवस्था में प्राणी ने बड़े क्लेश सहे हैं और जब गर्भअवस्था से निकला तब भी महान् क्लेश हुआ । इस मनुष्यभव में, गर्भ से ही क्लेशों की शुरूवात है ।

क्लेश मिटाने के थोथे सांसारिक प्रोग्राम—हे प्राणी ! तू क्लेशों को मिटाने के लिए बहुत से सांसारिक प्रोग्राम क्यों बनाता है? जैसे बहने वाली नदी में किसी जगह कोई कच्चा बांध बांधने का यत्न करता है तो काहे को वह यत्न करता है ? थोड़ी देर में ही तो वह बह जायेगा; ऐसे ही सांसारिक सुख पाने के लिए क्लेशों से दूर होने के लिए बड़े यत्न कर रहे हैं, हमारे पास धन जुड़ जाये, मकान बन जाये, नगर में मेरी कीर्ति छा जाये, ऐसी बातें तू काहे को सोच रहा है? अरे इतना तो विकट दुःख यथाशीघ्र मिलेगा जब तू गर्भ में पहुंचेगा, या अन्य प्रकार जन्मेगा । तब दुःख ही दुःख है तो । इस संसार में उन दुःखों से छूटने के लिए तू यहाँ के स्वप्न के प्रयत्न क्यों कर रहा है? दुःखों से छूटना है तो तु शुद्ध प्रयत्न कर । वह शुद्ध प्रयत्न क्या है? शरीर से भिन्न ज्ञानानन्दमात्र निज स्वरूपास्तित्त्वमय अपने आपको देखो, यह मैं सबसे न्यारा ज्ञानधन आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि बना, अपने आपमें आराम विश्राम कर ।

मरणभय में जन्मक्लेशमय की अन्तर्निहितता—तू मरण से डर रहा है, यह मरण जन्म का कारण है । जन्म भी दुःखमय है, मरण भी दुःखमय है । मालूम होता है कि तू मरण से क्या डर रहा है जन्म के दुःख से डर रहा है । ये तो आ ही रहे हैं । जन्म और मरण ये जीवन के ओर छोर है । जैसे एक बांस के पोर में दोनों ओर, ओर और छोर पर आग लगी हो और उसके बीच में कीड़ा हो तो उस कीड़े का कौन सहाय है, ऐसे ही हमारे जीवन के जिन्दगी के ओर में तो गर्भ और जन्म का क्लेश है, जन्म की आग लगी है और

जीवन के छोर में मरण की आग लगी है, ऐसे हमारे जिन्दगी के ओर छोर बड़ी कष्ट की ज्वाला में जल रहे हैं । उसके बीच में हम आप जन्तु पड़े हुए हैं । काहे की कुशलता? लोग पूछते हैं भाई कुशलता तो है ना? अरे काहे की कुशलता बतायें? यह संसार ही सारा क्लेशमय है, जन्मे मरे जन्मे मरे—यही इस लोक में होता है । आज यह मनुष्य की जिन्दगी पायी तो कौनसी बड़ी बात पायी? यह भी स्वप्नवत् है, थोड़े जीवन का काम है, मरेंगे । जो बात अपरमार्थ है, वास्तविक नहीं है उसका भय किया जा रहा है ।

स्वप्न का क्लेश—एक सेठ था । उसे दिन में नींद आ गयी । पड़ा तो है वह अपने अच्छे ठंडे कमरे में, स्वप्न आ गया कि मुझे बहुत तेज गरमी लग रही है, चलो समुद्र की शीतल लहरों में थोड़ा पहुंचें । रनों चलने को हुआ कि स्त्री, पुत्र, नौकर आदि सभी कहने लगे कि हमको भी तो गरमी लग रही है, हम भी चलेंगे । वे सबके सब नाव में बैठकर सैर करने चले । नाव जब मील दो मील दूर निकल गयी तो समुद्र में एक भंवर उठी, नाव डगमगाने लगी । नाविक बोलता है कि नाव तो अब डूब जायेगी, बचेगी नहीं । तो सेठ बोला भाई हमें बचावों, हमसे हजार रुपये ले लो, ५ हजार ले लो, हमें यहाँ से बचावो । वह कहता है कि जब हम ही न रहेंगे तो रुपये कौन लेगा ? हम तो नाव छोड़कर तिरे जा रहे हैं । यह सब स्वप्न की बातें कही जा रही हैं । जिसे ऐसा स्वप्न आये उसके दुःख का क्या ठिकाना? सेठ दुःखी हो रहा है । सारा दुःख स्वप्न में हो रहा है । नाविक तो नाव से कूदकर पार होने चला और सेठ बड़े कष्ट में है । देखो—कहां तो सेठ कोमल गद्दे में अच्छे ठंड के कमरे में पड़ा हुआ है, कुछ सेवक लोग उसका मन बहलाने के लिए उसके जगने का इन्तजार किए बैठे हैं, मगर सेठ की क्या हालत हो रही है? बड़ा दुःखी है । इतने साधन मौजूद है, पर सेठ के दुःख को मिटाने में कोई समर्थ नहीं है । सेठ का दुःख मिट सकता है तो मात्र एक उपाय से कि उसकी नींद खुल जाये, जग जाये तो उसका क्लेश मिटेगा । जगने पर देखता है कि वहाँ न समुद्र है, न नाव है, न कोई डूब रहा है, लो अब उसके रंच भी दुःख नहीं रहा ।

मोहनिद्रा का क्लेश—ऐसे ही इस मोही प्राणी को मोह की नींद में स्वप्ने आ रहे हैं, मेरा घर है, मेरा कुटुम्ब है, मेरा वैभव है आदि । स्वप्न में कोई भी बात झूठ तो नहीं मालूम होती, ऐसे ही मोह के समय में जो कुछ हम परख रहे हैं, जान रहे हैं यह झूठ नहीं मालूम होता । लेकिन जब हमारी मोह की नींद खुल जायेगी, ज्ञान जग जायेगा तब समझ में आयेगा—ओह ! कहां है मेरा यहां कुछ? अरे मैं तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से चैतन्य शक्तिरूप हूँ, सबसे न्यारा हूं—जहां यह दृष्टि जगी कि उसका सारा क्लेश मिट गया । कितना विचित्र क्लेश है संसार में? क्लेश है भी और नहीं भी है । है तो बड़ा विकट पहाड़सा लगता है और न समझे तो क्लेश तो कहीं नहीं है । अभी अपनी ही जिन्दगी में घटनाएँ देखो जो रोज आती हैं, कल्पनाएँ बढ़ा बढ़ाकर दुःख कर डालते हैं । हम आपको तो कोई क्लेश नहीं है । लाखों आदमियों से हम आपकी स्थिति अच्छी है और परमार्थ दृष्टि से तो मेरे आत्मा में कुछ अनिष्ट गुजर ही नहीं रहा है । कहां क्लेश है? कुछ क्लेश न लगेगा । शान्ति के लिए अथक प्रयत्न तो किए जा रहे हैं, पर एक शुद्ध स्वाधीन दृष्टि बनाने रूप प्रयत्न नहीं किया जा रहा है । जो वास्तविक काम है उसकी ओर तो दृष्टि नहीं है, और जो

काल्पनिक है उनकी ओर बेसुध होकर लग रहे हैं । धन बढ़ रहा है तो उसकी खुशी का क्लेश भोगा जा रहा है । खुशी में क्या क्लेश नहीं होता ?

सांसारिक हर्ष का क्लेश—एक साहब थे अंगरेज । उसकी आदत लाटरी लगाने की थी । १० रु० लगाया तो १०, २० हजार, लाख दो लाख का इनाम मिलता था, पर उसको कभी इनाम नहीं मिला । सैकड़ों बार उसने लाटरी लगायी । एक बार उसने सोचा कि हमारा जो यह चपरासी है इसके नाम पर लगा दें । सो १० रु० उसके नाम से लगा दिये । संयोग की बात कि उसके नाम से दो लाख रुपये निकल आये । साहब सोचता है कि इसको यदि ऐसे ही मैं कह दूँ कि तुझे ये दो लाख रुपये मिले हैं तो वह तो हर्ष के मारे फूला न समायेगा, मर जायेगा, बच नहीं सकता । हर्ष की ऐसी चोट होती है । तब साहब ने क्या किया कि पहिले तो चपरासी को बेंतों से मारकर दुःख दिया । वह कराहने लगा । जब कष्ट में हो गया तो उस ही बीच में कहा कि तेरे नाम से दो लाख रुपये आये हैं लाटरी में, सो तू इन्हें संभाल । तो ऐसे दुःख के बीच कुछ सुख की बात सुनने में आये तो उसकी संभल रह सकती ना । बाद में वह चपरासी बोला—हजूर हम क्या करेंगे? कहां लगायेंगे? इसमें इतनी बुद्धि ही नहीं है । उस अंगरेज ने कोई बड़ा काम छेड़ दिया और उसी में नौकरी बजाने लगा, मैनेजर हो गया ।

हर्ष के अतिरेक में पीड़ा—हर्ष का भी बड़ा क्लेश होता है । अभी किसी बात पर कुछ तेज हंसी आ जाये आध पौन मिनट तक के लिए तो पेट ऐसा फूल जाता है कि श्वास लेने की भी गुञ्जाइश नहीं रहती है तो वह हँसने वाला मारकर कहता है कि अब मत हंसावो । मुझे तो हंसी में बड़ा क्लेश हो रहा है । तो यह जो पाये हुए समागमों में हंसी खुशी मानी जा रही है, उसका उससे कई गुणा दुःख भोगना पड़ेगा । हंस लो जितना हंस सको । पर इसकी एवज में कई गुणा कष्ट आयेगा । कष्ट से बचना हो तो वर्तमान समागम में भी हर्ष का अतिरेक मत करो । जितने भी क्लेश है वे सब क्लेश इस शरीर के सम्बन्ध से हो रहे हैं । नरकगति के क्लेश तो दूर ही रहे । उनका तो स्मरण भी हो तो शस्त्राघात की तरह इस समय भी बड़े क्लेश का कारण बनेगा । यह उत्तम मनुष्य-पर्याय पायी है, इस मनुष्यपर्याय के ही क्लेश देख लो । इस मनुष्य-पर्याय को ग्रहण करते हुए शुरुवात में ही, गर्भ के समय में ही कैसे-कैसे दुःख हुए है ? उसका कुछ चिन्तन तो करो ।

मरणक्लेश में जन्मक्लेश का भय—कवि कहता है कि हम तो ऐसा मानते हैं कि जो तू मरण से डर रहा है, सो मरण भय पीछे कोई नवीन जन्म धारण करना पड़ेगा । सो जन्मविषे जो तूने क्लेश पाया है, कुछ ख्याल है तिस के भय से तेरे मरण का भय पाया जा रहा है । तू मरण से इसलिए डर रहा है कि मैं मरूँगा तो फिर जन्म पाऊँगा, और जन्म के समय में तो मरण से भी कई गुणा अधिक क्लेश है । सो मालूम होता है कि जन्म के क्लेशों के मारे तू मरण से डर रहा है । यह न जान कि क्लेश मरण में ही होना है । मरण से भी अधिक क्लेश जन्म में हुआ करते हैं । मरण से इसलिए डर रहा है यह कि मरे तो अब जन्म के दुःख भोगने पड़ेंगे । सो वह मरण का भय नहीं है, जन्म का भय है । जन्म में जो महान कष्ट होता है उसे नहीं

सह सकता यह जीव ।

संकटविनाश का प्रयोग—भैया ! अब ऐसा उद्यम करो जिससे जन्म का दुःख ही न हो । यह बात अपने आपके अन्तरङ्ग में जितनी दृढ़ भावना यह बना ले कि मैं शरीर से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप एक सत् हूँ । परिजन से, वैभव से, शरीर से मोह न रहे, अज्ञान न रहे—ऐसा मैं हूँ । यह मेरा है, यह मेरा हितरूप है, यह अज्ञान न रहे और जैसा यह मैं आत्मतत्त्व हूं—ऐसा ही अपने आपको मानूं तो मेरे ये संकट छूट सकते हैं । शरीर को यह मैं हूं—ऐसा मानते रहेंगे तो शरीर मिलते ही रहेंगे । आखिर यह भी प्रभु तो है ना, भगवान् है, समर्थ है, अनन्तशाली है, शरीर को ही मानते रहेंगे कि यह मैं हूँ तो इसे शरीर मिलते रहेंगे । इस भगवान् आत्मा को जो प्रिय है वह इसके लिए सदैव हाजिर है । संसार प्रिय है, विषय प्रिय है तो ये सब बराबर मिलते रहेंगे । आखिर है तो ऐश्वर्यशाली ना । कैसी इसकी विचित्र लीला है कि यह पेड़ों में जन्म लेगा तो शाखा, डाली, कोमल पत्ते, तने और नसें आदि सब रूपों में वह आत्मा कैसे फैल जाता है—ऐसी भी यह लीला किया करता है, जब जिस शरीर में पहुंचता है, तब उस शरीर रूप विस्तृत रहने की लीला करता है । शरीर में यों लीला कर रहा है । चेत जा, अपने आपके स्वरूप को संभाल सके तो यह अनन्तज्ञान की लीला करने लगेगा । जन्म और मरण आदि के जितने भी क्लेश हैं, वे सब इस शरीर के संबंध से हैं । अहर्निश ऐसी भावना बनाओ कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानान्दस्वरूप एक आत्मा हूँ । इस ज्ञानभावना के बल से ही ये समस्त संकट दूर होंगे ।

श्लोक (१०१)

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया,
विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा ।
यदत्र किंचित् सुखरूपमाप्यते,
तदार्यं विद्धयन्धकवर्तकीयम् ।। १०१ ।।

स्वयं के द्वारा स्वयं के घात की साधना—इस अज्ञानी जीव ने अनादिकाल से जो कुछ भी किया, वह अपने घात के लिए किया । जैसे कोई कषायी किसी बकरी को घात करने के लिए, लिये जा रहा हो, बड़ी धूप हो, गरमी में व्याकुलता आ गई । गरमी को मिटाने के लिए एक पेड़ के नीचे छाया में वह बकरी को लेकर ठहर गया । वहाँ उस बकरी ने अपने खुरों से जमीन को बहुत खरोंचा । उस खरोंचने से एक छुरी जमीन में से निकल आयी । तो कषायी ने अचानक अवसर पाकर उसी छुरी से उस बकरी का घात कर दिया, उसके खून से अपनी प्यास बुझाने के लिए । तो जैसे बकरी ने अपने आप अपने ही खुरों से ऐसी चीज प्रकट कर दी कि स्वयं का घात कर लिया—ऐसे ही यह संसारी प्राणी जिस कार्य को करके आत्मा का घात होता है, उस कार्य को अपने आप ही कर डालता है ।

विकार से विकास का घात—इस जीव का जो अनन्त विकास है, वह विकास विषयकषायों के परिणाम

से तिरोहित हो गया है । एक आत्मा में भी विकास और विषयकषाय दोनों का विरोध है । विषयकषायों के परिणामों के कारण इस जीव के ज्ञान, दर्शन, शक्ति और सुख आदि का विकास रुक गया है । क्या हेय है? क्या उपादेय है? इसका इस अज्ञानी जीव को विचार ही नहीं है । निमित्त तो कर्मोदय है, पर यह अपने आपकी इस स्वच्छन्दता से जिसमें इसने अपना मौज माना, उस कार्य को वह शीघ्र कर डालता है । दु:ख ही दु:ख का काम किया इस जीव ने, फिर भी जो कुछ थोड़ासा वैषयिक सुख मिला है, उसका कोई पक्ष आ जाए तो यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है ? इसी तरह दु:ख-दु:ख के कार्य करता हुआ अज्ञानी संसारी प्राणी थोड़े से विषय सुख पा गया, तो क्या हुआ? मिलने की कोई विधि तो न थी, पर अचानक सुखसमागम हो गया ।

जैसे हजारों अन्धे कहीं पर थे तो उनमें से किसी अन्धे के हाथ में बटेर आ गई । उससे हजारों गुणा बाकी सारे ही अन्धे तो बटेर नहीं पाते हैं—ऐसे ही यह निरख लो कि हम आप जिनको जो कुछ थोड़ा बहुत सांसारिक सुख मिला हुआ है । संसार के समस्त जीवों से हम लोग कितने हैं? क्या संख्या है? अनन्त तो निगोदिया के जीव बेहोश पड़े हुए हैं और अनगिनते पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव पड़े हुए हैं । मनुष्यों की क्या संख्या है ? संज्ञी पञ्चेंद्रिय जीवों की कितनी सी संख्या है? समस्त अज्ञानी प्राणियों के यह अनन्तवें भाग प्रमाण है । इसी प्रकार इन सब अन्ध जीवों और मनुष्यों के हाथ में बटेर पक्षी आ गया तो अत्यन्त ही आश्चर्य की और अनोखी बात है ।

आत्मअसावधानी—इस अज्ञानी जीव पर अहर्निश यह भ्रम का ही अंधेरा छाया हुआ है । यह अपनी उन्नति के लिए कुछ नहीं कर पाता । कभी कुछ प्रेम भी करता है किसी बात से ऊबकर कल्याण करने के लिए तो भी इसे वह विशुद्ध पद प्राप्त नहीं हो सकता । जिस पद से यह आत्मीय सामान्य प्राप्त होता है । हे आत्मन् ! तुझे कौन तारेगा? कौन सुखी करेगा? तेरी खबर लेने वाला केवल तू ही है । अपने आपके मन को संभाल, वचनों को संभाल, शरीर को संभाल । तेरी ही संभाल से तो तुझे आत्मीय आनन्द प्राप्त होगा । व्यर्थ के मोह और रागद्वेष के जालों से तुझे लाभ कुछ न होगा । किसी क्षण सबसे निराले ज्ञानानन्दघन निजअंतस्तत्त्व का अनुभव तो कर । सारे सारे बागजाल और सभी के सभी कल्पनाजाल—ये सब क्षणमात्र में ही नष्ट होगे ।

जीव के बैरी—इस जीव के बैरी भाव छ: हैं—प्रथम तो कामभाव है । किसी पर के शरीर के प्रति विकारयुक्त कल्पनाएं जगाकर एक कामवासना का जाल गूंथना—यह इस जीव का एक प्रधान बैरी है । जैसे कोई कहार मछली को जाल में डालकर मछली पकड़ कर बाहर फेंक देता है । सूखे स्थान में तो वह मछली तड़फ-तड़फकर संक्लेशपूर्वक मरण कर जाती है । ऐसे ही यह काम विषयक विकल्प इस जीव को जैनशासन के समुद्र में से निकालकर बाहर तृष्णा के रेतीले स्थान में इस जीव को डाल देता है । मछली का जीवन पानी था । उस पानी से अलग होकर मछली अपने प्राणों को गंवा देती है—ऐसे ही यह संसारी अज्ञानी प्राणी जैनशासन ज्ञान से अलग होकर अपने ही मन और कल्पना के अनुकूल कुछ से कुछ कल्पनाजाल बनाकर

इस जैनशासन से अलग-अलग होकर के तड़फता रहता है और दु:खी होता रहता है ।

मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ—इन पांच बैरियों के वश होकर भी यह जीव संक्लिष्ट रहता है । सबका मूलजनक बैरी मोह है । वस्तु की स्वतंत्रता आन में न रहकर एक दूसरे का स्वामी मानना तो मोह है । इष्ट की अप्राप्ति व अनिष्ट की प्राप्ति में रोष परिणाम रहना क्रोध है । पर्याय में आत्मत्व के भाव होने के कारण इस कल्पित निज की अन्य जीवों से श्रेष्ठता चाहना मान है । कल्पित इष्टप्राप्ति के आशय से मन, वचन और काय की कूट प्रवृत्ति करना माया है । कल्पित इष्ट की तृष्णा रखना लोभ है । इन सब बैरियों के संकट शरीर के कारण है । इस शरीर से विविक्त अपनी प्रतीति करने से सर्व संकट समाप्त हो सकेंगे ।

पराधीनता में सुख का अभाव—भैया ! यह प्राणी किस किससे आशा रख रहा है अपने हृदय में ? बन्धुजन और इष्टजन तथा स्त्री पुत्र आदिक अनेक पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना कर रहा है कि यह मेरा है, पर इसका होता कोई नहीं है । हैरान होता है यह देखकर कि जो मैं सोच रहा हूँ, जो मैं करना चाहता हूं—ऐसा परपदार्थ में नहीं होता है । पराधीन विषयों से सुख कहां मिले? दु:खी हो करके स्वच्छन्दता से अपने विषयकषायों में प्रवृत्ति कर रहा है । कदाचित् सांसारिक सुख भी मिल रहे हैं, पर उन सांसारिक सुखी को यों जानों जैसे कि अंधे के हाथ में कोई उड़ता हुआ पक्षी आ जाये । यह जीव अपने आपके संतोष और सुख के लिए क्या करता है ? इसे अगले छंद में गुणभद्र आचार्य कह रहे हैं ।

श्लोक (१०२)

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि ।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ।। १०२ ।।

आत्मरक्षा का अविवेक—हाय ! बड़े कष्ट की बात है कि जो आपको पंडित ज्ञानी मानता है ऐसे बड़े जनों को भी यह प्रचंड काम वशीभूत कर देता है, ज्ञान का खण्ड-खण्ड करके महान् दु:ख उत्पन्न करा देता है । ये कषायों के परिणाम, ये कामवासना के परिणाम इस ज्ञान के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं । अज्ञान ही समाया रहता है । ज्ञान का वहाँ कोई काम ही नहीं है । यह आश्चर्य तो देखो कि खोटे परिणामों के कारण जो इस ज्ञानभाव का खण्ड-खण्ड हो रहा है, उसे धीर-वीर बनकर सह रहा है । विषयकषायों के कौतूहलों को उत्पन्न होने वाले क्लेशों को यह मनुष्य सहता हुआ अपने को बता रहा है । हो तो रहा है खण्ड-खण्ड, हो तो रही है खुद की बरबादी धीर वीर और उस ही बरबादी में अपने को धीर वीर बना रहा है । अरे इस कामविकार को तपरूप अग्नि में जलाने का उत्साह क्यों नहीं करता है?

कामविजय के लिये तपश्चरणादिक का आग्रह—इस देह को जितना ही आराम में रक्खों वह उतने ही अनर्थ व्यर्थ के विकारों को बढ़ाता रहता है । इस देह की तपस्या में झोंक दिया जाये और नियत समय पर

खाना नियत खाना, और और भी जो अनेक तपश्चरण हैं, सर्दी गर्मी आदि के उन सबको सह लेना । अपने आपके आत्मज्ञान को यह सावधान बनाये रहे तो इसे कहीं क्लेश न होगा । हाय, देखो इष्ट जो स्त्री आदिक है उनका निमित्त यह काम इस जीव को खण्डित कर रहा है और अपने आपको बरबाद करता हुआ भी खेद नहीं मानता । इस काम ने तीन लोक के प्राणियों पर आतंक फैलाया है । स्वर्गों में देवता लोग नवग्रैवेयक से पहिले सोलहों स्वर्गों पर्यन्त वैक्रियिक शरीरधारी देवता भी इस काम से बच नहीं सके । कोई मनुष्यों की तरह कामसेवन करते हैं, कोई देव देवियों के शरीर का स्पर्श करके संतोष मानते हैं, कोई देव शब्द ही सुनकर अपनी कामव्यथा दूर कर लेते हैं, कोई रूप देखकर, कोई मन से ही विचार करके इस काम की विपत्ति की चिकित्सा करते हैं । लेकिन पड़ते हैं वे भी, किसी भी रूप में पड़े । इस कामाग्नि ज्वाला में भी वे भस्म होते जा रहे हैं? ऐसा तो आतंक छाया है, किन्तु यह जीव अपने को ज्ञानी मानता है । जो ज्ञानी लोक के द्वारा माने जा रहे हैं, उन्होंने इस कामविषय को छोड़ा है । यह कामविषय तो दु:ख ही उत्पन्न कराता है ।

महान् अविवेक—देखो कोई अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानता हो और कर क्या रहा हो, कामबाण से छिद रहा हो, दूसरे के कामबाणों को साहस करके सह रहा हो और जो बाण चलाने वाला विकार है उसको मित्र मानकर उसके विनाश का उपाय नहीं कर रहा हो, बल्कि उसको पुष्ट कर रहा हो, उसे और इनाम दे रहा है, यह बड़े आश्चर्य की बात है । जो अपना घात करे उसको ही मित्र माने और उसका पोषण करे, यही हाल हो रहा है संसारी जीवों का । परिजन, मित्रजन, रागद्वेष मोह की ये सारी बातें इस जीव का विघात कर रही हैं और यह जीव उन ही प्रसंगों को मित्रवत् अपना रहा है । आशय में उन्हें मित्र मान रहा है । आशय में मित्र न माने और किसी कारण उन्हें पुष्ट करे तो वह बात अज्ञान से अलग है ।

नसीहत-—एक कथानक है कि एक सेठ साहब की हजामत एक नाई बना रहा था । नाई ने हजामत बनाते हुए में एक दो जगह छुरा मार दिया, खून निकल आया । सेठ जी ने बाद में उसे २ रु० इनाम दिया । नाई बड़ा खुश हुआ । उसने सोचा कि यह तो बड़ी अच्छी तरकीब है । जितनी जगह छुरा मारो, उतने रुपये इनाम के मिलते हैं । एक बाबू साहब की भी हजामत बनाने पहुंचा । सोचा कि ये तो बड़े पुरुष हैं, बड़े अच्छे ढंग से रहते हैं । इनसे तो ज्यादा इनाम मिलेगा । सो हजामत बनाते हुए में उसने दो तीन जगह छुरा मार दिया तो बाबू साहब ने और उनके नौकरों ने जूतों से अच्छी मरम्मत कर दी । वह सोचता है कि मेरा हिसाब कहां बिगड़ गया सेठ को दो छुरे मार दिये तो २ रुपये मिले और ये तो बड़े पुरुष हैं, ये तो रुपयों के एवज में मार रहे हैं । वह एक बुद्धिमानी थी । उस सेठ ने नाई को मित्र मानकर रुपये नहीं दिये थे, किन्तु सजा दिलाने के लिए रुपये दिये थे । भीतर से मित्र तो न मानों । यह जीव तो इन्हें भीतर से मित्र मानता है । खूब विचार लीजिए ।

आत्मानुष्ठान में ही उद्धार—यह जीव कुछ दिनों को जीवित है । यह मरण करके कहां जायेगा इसका फिर यहाँ के लोगों से कुछ परिचय भी रहेगा क्या? अनेक भव व्यतीत हो गए वहाँ के परिवार जनों का कुछ भी तो परिचय नहीं है । यहाँ का कुछ भी परिचय न मिलेगा । तो ऐसे अभी से ही तू देख अपने आपको कि

जो मिला हुआ भी है, इससे भी मेरा कोई परिचय नहीं है । सबको अपरिचित देखो, स्नेह न बढ़ावो, परिचय न बढ़ावो, मोह मत बढ़ावों, सबको न्यारा जानकर सबसे अलग हटकर अपने आप में अपने ज्ञानमात्र स्वरूप का अनुभव करो । अपने आपमें पैठे बिना उद्धार का मार्ग न मिल सकेगा । बाह्यदृष्टि में तो केवल अशान्ति ही अशान्ति रहेगी ।

निजविश्राम के बिना विडम्बनाओं का चक्र—कोई पुरुष अपने घर को न जानकर, अपने घर में प्रवेश न करके पराये घर में प्रवेश करे और वहां अधिकार जमायें तो उसका फल लुटना और पिटना ही उसे मिलेगा । अपना घर छोड़कर पराये घर पर कोई अधिकार, जमाये तो वह केवल क्लेश का ही कारण है । हमारा वास्तविक घर है, जहाँ ज्ञान और आनन्दस्वरूप समाया हुआ हैं—ऐसा यह मेरा आत्मप्रदेश है । उस अपने घर को छोड़कर परवस्तुवों की आशा करना यहीं पर घर में वास करना है । जैसे कोई बैरी बाणों से छेद रहा है और उसे भूल से मित्र मानकर उसका पोषण किया जाए तो जैसे लोक में वह मूढ़ कहलाता हैं—ऐसे ही कोई अपने को ज्ञानीरूप मानता है और ये कामविकारभाव स्त्रीरूप बाणों से इसे छेदें अथवा परशरीर बाणों से छेदें और उन्हें यह मित्र मानें, तो उसकी दशाएं उसी प्रकार है ।

जिसका ऊपर दृष्टान्त दिया गया है, वह पीड़ा सहता है और काम को हितरूप जानकर वहीं रमण करता है । अरे ! तू तपरूप अग्नि से इसी काम को भस्म कर देने का उपाय क्यों नहीं करता, क्यों अनेक सामग्री को संचित कर इस काम की पुष्टता को चाहता है ।

कामविजय से लोकविजय—एक बात बड़ी प्रसिद्ध है कि शम्भु ने कामदेव को जलाकर उसकी राख को अपने शरीर में लपेटा और दुनिया में अपनी वीरता का परिचय कराया । एक स्तवन में कवि कहता है कि वाह री विचित्रता ! इस कामदेव को जलाया तो जितेन्द्रिय ने । उससे कामदेव भस्म हो गया तो उसकी राख को लपेटकर कोई अपने को कामविजयी ही प्रसिद्ध करना चाहता हैं । शरीर को सुकुमार मत बनाओ । शरीर के रुचिया और आरामदेह मत बनो । इस शरीर को कष्टमय होने दो । तुम उपकार और पर के काम करो । जो अपने शरीर को आराम से रक्खेगा, अपने शरीर से मोह करेगा, उसमें विकारभाव तीव्रता से आयेंगे और अपने ही इन सब विकारपरिणामों से अपने आपको संसार में रुलाएगा । जन्म और मरण की परम्परा बढ़ायेगा । तुझे यह विनश्वर शरीर मिला है । यह तो किसी दिन भस्म हो ही जाएगा ।

अरे भैया ! ऐसा काम करलो ना कि इस शरीर को तप और संयम में लगाकर तू विकारभावों को भस्म कर डाल ओर अपने शुद्धज्ञानानन्दस्वरूप का निर्विकल्प होकर अनुभव कर । अपना काम और अपने परिणाम संभाल लेगा तो तुझे अलौकिक सुख प्राप्त होगा । यों इस छंद में आचार्यदेव अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का उपदेश कर रहे हैं ।

श्लोक (१०३)

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्,

पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ।। १०३ ।।

उत्तरोत्तर त्याग—जिसके भेदविज्ञान निर्मल प्रकट हुआ है और इस भेदविज्ञान के बल से परद्रव्यों की उपेक्षा करके जिसे निजअन्तस्तत्त्व की चाह लगी है, वह पुरुष इन विषयकषायों में बंधकर नहीं रह सकता है । फल यह होता है कि वह सर्वपदार्थों का त्यागी हो जाया करता है जो जन त्यागव्रत लेते हैं, उनके तीन प्रकार हैं—कोई अपनी सम्पदा को तृणवत् विचार कर और साथ ही कुछ कषाय के अंश होने से याचकजनों को देकर, कुटुम्बी और बहिन आदिक जिसको जो कुछ देना हुआ देकर, फिर उन विषयों के त्यागी हो जाते हैं, लक्ष्मी का त्याग कर देते हैं । कोई जन इतने विरक्त होते हैं और कुछ ऐसे विरक्त होते हैं कि इस लक्ष्मी को पापस्वरूप और तृप्ति की न करनहारी समझ कर उसके विनियोग की भी कल्पना न करके यों ही छोड़कर चल देते हैं । यह उनसे भी विशिष्ट कक्ष के त्यागी हैं । कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि पहिले से ही इस लक्ष्मी को कुशलरूप न जानकर पहिले से ही त्याग देते हैं, भोगते भी नहीं है । यह उनसे भी उत्कृष्ट त्यागी है ।

उत्तरोत्तर विशिष्ट त्याग का एक उदाहरण—उदाहरण के लिए एक घटना लो । किसी नगर में मंदिर में तीन पुरुष मिलकर व्रत नियम स्वाध्याय किया करते थे । जिन में एक बड़ी उमर का था, दूसरा जवान था और तीसरा १८,२० वर्ष का बालक था । स्वाध्याय का उन तीनों के नियम था, धर्म की रुचि थी । एक दिन उन तीनों में यह बात तय हुई कि अपने में से जो विरक्त हो जाये, वह बाकी दो को भी सम्बोधे । तो उस वृद्धपुरुष के मन में आया कि उमर बहुत गुजर गयी, जो कुछ मन में था वे कर्तव्य भी कर लिए, पर इस जगत् में सारभूत बात कुछ भी नहीं मिली । इस जगत् से तो विरक्त होना ही कल्याणकारी है । उसे सब कुछ छोड़ने का मन में आया । तो उसने दो तीन माह में सारी सम्पदा का हिसाब किताब बनाकर, जिसको जितना बँटवारे में मिला सब कुछ दे दिया, सब कुछ छोड़कर घर से चल दिया । रास्ते में उस जवान की दुकान पड़ती थी, जो स्वाध्याय में उसका साथी था । उस जवान साथी से बोला कि भाई ! हम तो विरक्त हो गए है और जा रहे हैं, किसी धर्मसाधना के स्थान पर । तो वह जवान बोला कि हम भी तुम्हारे साथ चल रहे हैं । दुकान से उठा और साथ चल दिया । तो वह वृद्ध पुरुष कहता है कि तुम ऐसे क्यों चले जा रहे हो? लड़के को बुलवावो, दुकान संभलवा दो, दुकान की चाबी सौंप दो तब चलो । तो जबान बोला कि जिस चीज को छोड़ना है, उसे जब छोड़ ही दिया तो फिर उसकी क्या व्यवस्था बनानी जो लेना चाहे ले, जो लूटना चाहे लूटे । जिस वस्तु का हमने अमल त्याग दिया, उस वस्तु के बारे में अब क्या कल्पनाएं जगाना? वह यों ही खुली दुकान छोड़कर उस वृद्ध पुरुष के साथ चल पड़ा । अब इन दोनों ने रास्ते में किसी मैदान में उस बालक को खेलते हुए देखा । वे दोनों कहते हैं कि हम दोनों विरक्त होकर जा रहे हैं । तो वह बालक बोला

कि हम भी साथ ही चलते हैं । गेंद बल्ला वहीं छोड़कर उन दोनों के साथ चल पड़ा । वे दोनों समझाते हैं कि अभी तुम्हारे विरक्त होने के दिन नहीं है, तुम्हारी सगाई हुई है, विवाह कर लो, घर रहो कुछ सांसारिक आनन्द लूटो, बाद में विरक्त होना । तो वह बालक कहता है कि जिस चीज को हम आगे छोड़ेंगे उसको अभी क्यों ग्रहण करें ? जिस कीचड़ को हमें आगे धोना पड़ेगा, उसे हम पहिले से ही न लगायें तो यह कितनी उत्तम बात होगी वह बालक खेल छोड़कर उन दोनों के साथ चल पड़ा । अब जरा विचारो तो सही कि उन तीनों में उत्तरोत्तर कौन भला था? उस वृद्ध से भला तो जवान निकला जिसने कुछ व्यवस्था बनाने की भी नहीं सोची । जिसे त्याग दिया उसका अब क्या विकल्प करना? वह चल दिया । उससे भी उत्कृष्ट निकला वह किशोर बालक जो यह सोचता है कि जिस चीज को भोगकर छोड़ना ही है, उसको पहिले से ही क्या ग्रहण करना ?

विषयत्याग की अनिवार्यता—देखो, विषयों के त्याग के बिना किसी का गुजारा नहीं चलता । जो विषयों में आसक्त है उनका भी विषयों के त्याग बिना गुजारा नहीं चलता है । मान लो कोई खाता ही जाये, खाना छोड़े नहीं तो उसका गुजारा चल जायेगा । नहीं चल सकता । यों ही सभी विषयों की बात है, सब विषयों को छोड़ने से ही गुजारा चलता है । तो वे तीनों पुरुष उत्तरोत्तर विशिष्ट त्यागी हुए । यह तो हुई त्यागियों की उत्कृष्टता । अब जरा विषय कषायों की भी उत्कृष्टता देखो । कितना त्याग कषायों में होड़ मचाए हुए हैं ।

अज्ञान में विषयों की होड़—एक बार टोकरों में मल लिए जाते हुए भंगिन को देखकर तीन पुरुष उसके पीछे लग गए । किसी सज्जन पुरुष ने उसे अच्छी तौलिया देकर ढका दिया था ताकि किसी को परेशानी न हों । वह भंगिन कहती हैं-भाई क्यों हमारे पीछे लगे हो? वे तीनों बोले कि हम देखना चाहते हैं कि तुम टोकरी में कौनसी चीज लिए जा रही हों? इसमें तो कोई बढ़िया चीज होगी । वह भंगिन कहती हैं—भाई, लौट जावो इसमें मल है, गंदी चीज है । इतनी बात सुनकर उनमें से एक वापिस, लौट गया, दो अभी तक पीछे ही लगे रहे । भंगिन कहती हैं—भाई ! लौट जावो, क्यों पीछे लगे हो ? तो वे कहते हैं कि हमें तो दिखा दो । जब सही-सही मालूम पड़ जायेगा, तब लौटेंगे । भंगिन ने उस टोकने से तौलिया हटा दी । उस मल को देखकर उन दोनों में से एक वापिस हो गया । एक अभी तक पीछे लगा रहा । उसे विश्वास न हुआ कि भंगिन सही कह रही है । भंगिन कहती है—भाई लौट जावो । इस टोकरी में मल भरा है । तो वह कहता है कि हमें तो अच्छी तरह से दिखा दो, जब ठीक-ठीक हमारी समझ में आ जायेगा कि यह मल है तब लौटेंगे । हमें तो लगता है कि इसमें कोई अच्छी चीज होगी । भंगिन ने बहुत समझाया कि इसमें मल है, पर वह नहीं माना । इसे तौलिया हटाकर दिखा दिया, जब रख अच्छी तरह से सूंघ साधकर उसने जांच कर ली कि वास्तव में यह मल है, तब वह लौटा ।

उत्तरोत्तर त्याग का विश्लेषण—जगत् में सभी जीवों को ये विषयसाधन छोड़ने पड़ेंगे । चाहे कोई मर कर छोड़े, चाहे भोगकर छोड़े, चाहे पहिले से छोड़ दे । सबको ही विषय छोड़ने पड़ेंगे । ये वैभव सम्पदा जो मोह के साधन बनाए गए है ये सब छोड़ने पड़ेंगे । चाहे कभी छूटे, रहेगा यहाँ कुछ नहीं । यों जगत् में विचित्र

विषयभोगी है और विशिष्ट प्रकार के त्यागीजन भी हैं । उत्कृष्ट तो वे सभी हैं जो विषयों का परिहार कर दें । जैसे कहते हैं कि दिन भर का भूला शाम को ठिकाने आ जाये तो उसे भूला नहीं कहते । ऐसे ही अपनी जिन्दगी में कितने ही वर्ष बिता देवें, कितने ही खटपट आरम्भ पापवासना में अपनी जिन्दगी बिता देवें, पर किसी दिन चेत हो, विरक्ति आ जाये तो वह भूला हुआ नहीं है । ठीक है उसने अपना काम यहाँ बना लिया । जो भी पुरुष इन विषयसाधनों का परित्याग करते हैं, वे तो उत्कृष्ट त्यागी ही है । उनमें अब यह छटनी कर लेना कि जो पुत्र आदिक को धन आदिक देकर या जिसे देना है उसे बांटकर फिर त्याग करे, वह भी उत्कृष्ट त्यागी है । कोई पुरुष तो अन्तर से किसी वस्तु का त्याग नहीं कर पाते हैं उनसे तो यह भला है । त्याग दिया एक तो ऐसे मनुष्य, दूसरे ऐसे मनुष्य है कि किसी को देने, बांटने का भी विकल्प नहीं करते ऐसे ही समग्र धन यों ही त्यागकर चले जाते हैं । यह पुरुष उनसे उत्कृष्ट है क्योंकि पहिले उस वृद्ध पुरुष के कुछ कषायों का अंश था । उनसे कुछ अपना सम्बंध ही तो समझा, तब किसी को देने का परिणाम किया गया, किन्तु यह भव्य किसी को देने तक का भी परिणाम नहीं कर रहा है । वह तो सबको यों ही छोड़कर जा रहा है । यह पुरुष उससे भ उत्कृष्ट है और कोई बालक बालिकाएँ ऐसे कल्याण के अभिलाषी हों, जो भोगने से पहिले ही भोगे बिना त्याग देते हैं, वे उत्कृष्ट हैं ।

धर्मरुचि की उपादेयता—धर्म और ज्ञान की प्रीति करना और धर्म एवं ज्ञान का दूसरे जीवों के हित में प्रचार करना, यह कल्याण का मार्ग है । यह संसार-विषयकलुषता का परिणाम इतना कठोर है कि इसके त्यागते-त्यागते भी इसके त्याग में सफल नहीं हो पाते । अपने परिवार में जो बालकजन हों, जो भी हों उन सबके प्रति आपका कर्त्तव्य है कि उनमें धर्मभावना रहे, ऐसा उपाय बनायें । वैराग्य, धर्मभावना, ज्ञानप्रकाश आदि परिवार के सदस्यों में है तो वह सुख शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकेगा । जिसको धर्म की रुचि नहीं है, ज्ञान और चारित्र से प्रेम नहीं है, ऐसे लोग कोई भी हों, वहाँ पद-पद पर झगड़ा चलता रहता है । जिसमें धर्म की वासना हो लोक का जीवन भी बहुत-बहुत अच्छी रीति से व्यतीत होता है और परलोक का सुख तो उसे प्राप्त होता ही है । धर्म में आदि में, मध्य में, अन्त में सर्वत्र आनंद ही आनन्द है और धर्मभाव हो तो सर्व कुछ सम्पन्नता होकर भी उसे कष्ट अनुभवना पड़ता है । वह पुरुष विशेषतया धन्य है जिसमें इतना ज्ञानबल बड़ा हुआ है कि इन भोगों को न चाहकर, नं भोगकर पहिले से ही उन्हें छोड़ देता है । उसका उत्कृष्ट होनहार है, उसकी वृद्धि विद्या सब उत्कृष्ट है । जो विषयों से विरक्ति भाव रखते हैं, वे सर्वदर्शी होने के पात्र हैं ।

उदार पुरुषों की वृत्ति पर मोहियों को आश्चर्य—जो समस्त परिग्रहों को त्याग कर साधुसंत होने की दीक्षा ले, उसने तो सब कुछ ही दान कर दिया । जो अपने लिए कुछ नहीं चाहता, जिसको अपने चित्त में स्वार्थ नहीं है उसने तो सब कुछ दान कर दिया । आत्मकल्याण की दृष्टि से देखियेगा । जो पुरुष समग्र परद्रव्यों से भिन्न निजस्वरूपमात्र अपने को अवलोकता है उसका सर्वकल्याण होता है, इस पर मोहियों को आश्चर्य लगता है कि ऐसी बड़ी सम्पदा लाखों करोड़ों अरबों का धन प्राप्त करके फिर यह सब छोड़ जाते हैं । कैसे छोड़

जाते हैं उन्हें उनकी वृत्ति पर आश्चर्य होता है, ठीक है ।

विचित्र बीमारी एक बार किसी कंजूस ने नगर में जाते हुए किसी सेठ को अन्न कपड़ा बांटते हुए देख लिया था । यों ही यह धन लुटाया जा रहा है, ऐसी दृष्टि करके उसे खेद हुआ । जो लोभी पुरुष है वह खुद भी त्याग नहीं कर सकता है और त्याग करते हुए दूसरों को देख भी नहीं सकता है । वह कंजूस बड़ा उदास चित्त होकर घर आया । उसके सिर में दर्द होने लगा था । उसकी स्त्री पूछती है कि हे लक्ष्मीपुत्र ! तुम आज उदास क्यों हो ? लक्ष्मीपुत्र जानते हो किसे कहते हैं? जो इस धन सम्पदा को माता की तरह रक्खे, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र । जैसे पुत्र माता को भोगता तो नहीं है, वैसे ही जो इस सम्पदा को भोग न सके, खर्च न कर सके, जो अतिकंजूस है वह तो लक्ष्मी का पुत्र है । लक्ष्मीपति होना और बात है, लक्ष्मीपुत्र होना और बात है । वैसे भी बताया है कि इस लक्ष्मी की सवारी उल्लू है । जैसे अलंकार में सबकी सवारियों का निर्णय है-—गणेश की सवारी चूहा है, महादेव की सवारी बैल है, ऐसे ही लक्ष्मी की सवारी उल्लू है । स्त्री बोली—हे लक्ष्मीपुत्र ! क्या हो गया ? तुम क्यों उदासचित्त हो ? ''नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन । क्या तेरो कुछ गिर गयो या काहू को दीन ।।'' क्यों उदास चित्त है, तेरा कुछ गिर गया है क्या ? या तूने किसी को कुछ दिया है क्या? तू क्यों उदास है? तो सूम कहता है—''ना मेरो कुछ गिर गयो, ना काहू को दीन । देतन देखो और को तासौं बदन मलीन ।।'' जो अनुदार होता है वह दूसरों को देते हुए भी नहीं देख सकता है ।

भोग के त्याग में ही उत्कृष्टता—जो पुरुष भोगकर भी त्यागे, वह भी उत्कृष्ट है । बिना भोग भोगे त्यागे वह भी उत्कृष्ट । जो पुरुष जब चेत जाये जब निर्विकार हो सके तब ही भला है । जो अब से असंख्यात वर्ष पहिले सिद्ध भगवान् हुए है । वे भी जगत् में अनन्तकाल भटककर हुए हैं । इस, समय जो जीव आज दिख रहे हैं वे तो संसार में भटक ही रहे हैं । जो जब चेत जाये, समझो उसका वही सबेरा और उसका उतनी जल्दी भला हो गया है । जिस-जिस वस्तु में मोह किया जा रहा है, जो लोग मोह किए जा रहे हैं, वे स्वयं ही अपने आपको क्लेश के गड्ढे में पटकते जा रहे हैं । यह मोह का अंधकार यह ज्ञान का अंधेरा इस जीव को शान्ति नहीं लाने दे सकता । खूब अपने आपके अंत:मर्म में प्रवेश करके सोच लो, हम प्रभु की भक्ति करें, पूजा करें और इस पौद्गलिक विभूति से ममता न हटे उसे ही अपना देवता मानते रहें तो हमारी भक्ति पूजन कहां विराजेगी? जब स्वपरवस्तु के प्रसंग में ज्ञानप्रकाश ही नहीं जग पा रहा है और परपदार्थों में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार का भाव किया जा रहा है तो उसे चैन मिलेगी कहां से ? ज्ञानप्रकाश पायें और इन जड़ पौद्गलिक विभावों को विनश्वर भिन्न जान लें, कुछ अपनी ममता को ढीली करें तो कल्याण का मार्ग मिलेगा अन्यथा यह पाया हुआ दुर्लभ मनुष्यजीवन बिल्कुल बेकार खोया ।

मोहत्याग में ही दुर्लभ समागम की सफलता—भैया ! यदि परपदार्थों के प्रति ममता में ढिलाई नहीं की जा सकती है तो किस काम आया यह नरदेह, किस काम आया यह जैनशासन का एक वातावरण किस काम आया यह प्रभुभजन ? जब कि इसके चित्त में परपदार्थों से उपेक्षा ही नहीं जग पाती है, पर में रले मिले ही चले जा रहे हैं, घुलमिल कर रहने की आदत बनी हुई है । ये जड़ वैभव सम्पदायें भी अपनी ओर

से कोई रागभरी वाणी नहीं बोलते हैं वहाँ तो यह कंजूस इस मोह का अपने ही आपकी ओर से एकाकी रहकर, एकाकी ही प्रयत्न कर रहा है, अपने आपको अंधेरे में और क्लेश गर्त में डालने के लिए । भाई सब कुछ छूटेगा तो जरूर, अभी से कुछ उदारचित्त बना लो, कुछ अपने जीव में इस जीवन में इस वैभव से युक्त रहने की आदत बना लो, अन्यथा मरण समय में अत्यन्त क्लेश होगा और आगे जन्म लेकर वहाँ भी सारे जीवन भर अपने को कष्ट में ही लगाना पड़े । इससे त्याग की आदत डालो, त्याग का भाव बनावो, मोह में ढिलाई करो । इससे ही कल्याण का मार्ग मिलेगा ।

श्लोक (१०४)

विरज्य सम्पदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ।। १०४ ।।

संतों का वैराग्यपूर्वक त्याग—ज्ञानी संतपुरुष बड़ी उत्कृष्ट भी पायी हुई सम्पदा को त्याग देते हैं, इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनको इस पर में, विपत्ति में रुचि नहीं जगी और उसमें ग्लानि बनी रही । किसी भी परपदार्थ पर देते हुए उपयोग में आत्मा का हित नहीं है । अशोभनीय और अयोग्य काम में रुचि न होने से यह सम्पदा छूट ही जाती है । ओर देखो छूटेगी तो सारी सम्पदा । किसी के भी पास सदा न रहेगी । यह ही मरण करके चला जायेगा । फिर क्या है यहाँ का इसके लिए ? लेकिन जो अपने जीवन में ज्ञान के बल से सम्पदा को छोड़ देते हैं और ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में प्रवेश करके शान्त रहा करते हैं ये सत्पुरुष धन्य हुए । इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि ऐसे बड़े पुरुष भी अलौकिक राज्य और वैभव सम्पदा को भी त्याग देते हैं, जैसे ग्लानिसहित भोजन किया गया हो तो उसे वह पुरुष क्या उगल नहीं देता । कोई पुरुष ग्लानिसहित भोजन करे यह भोजन ठीक नहीं है, विषैला है या अन्य कुछ बात ध्यान में रखकर ग्लानिसहित भोजन करे, रुचि न जगे तो उस भोजन का वमन कर देता है अथवा वह ऐसी औषधि खाता है जिससे वह किया हुआ भोजन उगल जाये वह अपने उदर में रखना नहीं चाहता । इस ही प्रकार ग्लानिसहित इस वैभव सम्पदा को रखने वाला, भोगने वाला यह ज्ञानी पुरुष उस वैभव सम्पदा को त्याग ही देता है ।

वैराग्य में त्याग का निभाव—भैया ! जब रागभाव रहता है तब त्याग करके दुःख मालूम होता है । इसी कारण से सरागी पुरुष वहाँ आश्चर्य मानते हैं कि इसने वैभव कैसे त्याग दिया ? जिसके विरागता उत्पन्न हुई, उसको त्याग करने में कुछ भी खेद नहीं होता, बल्कि उस परवस्तु के त्याग से अपने आपकी ओर झुकाव अधिक बढ़ता है । उससे वह विशुद्ध शाश्वत निराकुल आनन्द ही चाहता है और कुछ नहीं चाहता है । पर इस विशुद्ध आनन्द की झलक उसी को ही होती है जो पर को पर जानकर पर से उपेक्षा करके निज आत्मस्वभाव को शरण मानकर उसकी ओर ही झुके । कितनी स्पष्टसी बात है जरा से विवेक से भी समझ में आ जाने वाली बात है कि यह सब कुछ भिन्न है, अहित है, कुछ सम्बन्ध भी नहीं है । भला बतलावो इस

भींत की ईंटों से आपका कुछ ताल्लुक है क्या, कोई सम्बन्ध है क्या, कोई सम्बन्ध है क्या, कोई रिश्तेदारी है क्या? यों ही इस वैभव को भी सोचिये कि यह आपका कुछ लगता है क्या ? अरे लगता तो यह देह भी कुछ नहीं है । इसे भी त्यागकर जाना पड़ता है, फिर अन्य वैभव की तो बात ही क्या है?

आनन्द का आधार ज्ञान और वैराग्य—ज्ञान और वैराग्य में जो आनन्द बसा है, आनन्द वही है । इसके अतिरिक्त तो सारे क्लेश ही क्लेश है । श्रम से मान लिया कि सुख है, पर की आधीनता स्वीकार करके नाना क्लेश ही क्लेश भोगे जाते हैं, तिस पर भी बुद्धि पर ऐसी धुन बनी रहती हैं कि उसे ही सर्वस्व और हितकारी माना जाता है । यथार्थ ज्ञान बना रहना इससे बढ़कर अन्य कुछ भी वैभव नहीं है । आत्मा का शरण सहायक सम्यग्ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है । जब कभी यह मनुष्य इष्ट का वियोग होने पर घबड़ाता है तो उसे इसका ज्ञान ही सहायक होता है । दूसरा कोई पुरुष सहायक नहीं होता । सम्बन्धीजन उसे बहुत समझाते हैं, छोटा हो, भतीजा हो उसे गोद में लेकर समझाते हैं, सिर पर हाथ फेरकर, लेकिन उसकी समझ में आये, तब ना वह दुःख छोड़े । उसके ही ज्ञान जगे और यह बात स्पष्ट समझ में आये कि मेरा तो कहीं कुछ था ही नहीं, न है, न होगा । मैं तो अपने स्वरूप से परिपूर्ण सत् हूँ । अपने ही स्वरूप मात्र हूँ । मेरा तो मेरे स्वरूप पर ही अधिकार है, अपने स्वरूप के सिवाय अन्य किसी परजीव पर अन्य किसी परपदार्थ पर मेरा रंच भी अधिकार नहीं है । यह बात जब समझ में आये तब दुःख मिटेगा । दूसरों की कोशिश से दुःख न मिटेगा । यों ही अन्य और क्लेश आ जायें, उन क्लेशों में भी इस आत्मा का सम्यग्ज्ञान ही शरण है । ज्ञान में अद्भुत बल है, इसी प्रकार वैराग्य में भी अद्भुत बल है ।

क्लेश का आधार पर का अनुराग—जितने भी क्लेश है वे सब राग से उत्पन्न किए गए हैं । सिवाय रागपरिणाम के और कुछ क्लेश है ही नहीं । रात दिन की सब प्रवृत्तियों में इसका अंदाज कर लो, जब-जब भी इसे कोई क्लेश हो रहा होगा तब किसी न किसी परवस्तु के विषय में राग करने से क्लेश होता होगा । सिवाय राग के और कोई कारण नहीं है कि मुझे दुःख हो जाये, और राग है व्यर्थ का । जो अज्ञान से अपने स्वरूप को न पहिचान कर श्रद्धा ही ऐसी बना लेता है कि यह अमुक परवस्तु मेरी हितकारी है, मेरी है, बस उसे क्लेश होंगे । सारे क्लेश के साधनों को छानते जाइये, सभी के अज्ञान से क्लेश हैं । भगवान की भक्ति करने हम आते हैं, भगवान् की भक्ति का विशुद्ध एक यही प्रयोजन है कि हे प्रभु! मेरे में राग परिणमन न रहे, यही मैं चाहता हूँ । मैं संसार के अन्य पदार्थों को नहीं चाहता हूँ, क्योंकि उनके मिलन पर भी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती है, बल्कि अशान्ति बढ़ती जाती है । मेरे रागभाव न रहे, यही मैं चाहता हूँ ।

प्रभुस्तवन में भक्त की चाह—स्तवन में कहते हैं ना, आत्मा के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये । आत्मा का अकल्याण करने वाले ये विषय और कषाय के परिणाम है । इनमें मेरी प्रवृत्ति न हो, बस यही मैं चाहता हूं । इतनी स्वच्छ बुद्धि ज्ञानी पुरुष के हुआ करती है । अज्ञानीजन तो लड़के मांगेंगे प्रभु से, वैभव चाहेंगे, मुकदमें की विजय चाहेंगे, यश चाहेंगे और अनेक लौकिक कामनाएँ । किन्तु ज्ञानीपुरुष यही चाहते हैं कि मेरा जैसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है ऐसा ही मेरा स्वरूप रहो, अन्य कुछ कामनाएँ नहीं हैं । इतनी

स्वच्छता सम्यग्ज्ञान बिना जग नहीं सकती । सम्यग्ज्ञान ही हम आपका वास्तविक शरण है ।

अपूर्व मिलन—अपनी भक्ति अपने प्रभुज्ञान के निकट बसा करे, उससे और बढ़कर कोई मिलन नहीं है । खुद ही खुद से मिल जाये यही अपूर्व मिलन है, बाकी तो किसी पदार्थ से हित बनाया, प्रेम किया, यह कोई अपूर्व मिलन नहीं है, वह क्लेश को ही देने वाला है । अपने अन्तरंग में ऐसा यत्न तो करलो । गुप्त ही गुप्त अपने आप में ही बसकर स्वाधीन सुगम पुरुषार्थ किया जाना है, सारा संसार मिलकर भी मुझे सुखी करने का यत्न करे तो भी नहीं कर सकता है और मैं ही केवल अपने आप आपके बल से ही अपने आपको सुखी होने के लायक ज्ञानरूप प्रयत्न करूँ तो मैं सूखी हो सकता हूं । सुख के उपाय में दूसरी कोई बात है ही नहीं ।

विशुद्धज्ञान में विरागता का स्वागत—ये ज्ञानी वैरागी पुरुष विरक्त होकर इस सम्पदा को छोड़ देते हैं तो इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है । हमारी बुद्धि जब तक वैराग्य की ओर नहीं लगती है तब तक ये शान्ति के सब काम अटपटे मालूम होते हैं । अनन्त तीर्थंकरों ने क्या किया अन्त में? यही वैराग्य उन्होंने परिग्रह का परित्याग किया, पर हमारी समझ में वह बात ठीक न जँचे तो हम अपने को प्रभु के भक्त कहने के अधिकारी नहीं है । हमारी निरन्तर यह भावना रहे दर्शन करते हुए, सामाजिक पूजन आदि करते हुए अथवा पर में भी बैठे हुए यह भावना जगे कि हे प्रभो ! मुझमें इस भाव का अपूर्वबल शीघ्र प्रकट हो कि रागद्वेष का मेरे में निवास हो न हो । मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखता रहूं, इस अन्त:प्रयोग ही मोक्षमार्ग समाया हुआ है ।

श्लोक (१०५)

श्रियं त्यजन् जड: शोकं विस्मयं सात्त्विक: स ताम् ।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ।। १०५ ।।

लक्ष्मी के प्रति अज्ञानी और ज्ञानी की प्रतिक्रिया—जो मूर्ख पुरुष होते हैं, जो पराक्रमरहित होते हैं, जो विषयकषायों को अपनाने के कारण कायर बने हुए है, ऐसे पुरुष तो इस लक्ष्मी को त्याग कर शोक करते हैं । ये पुरुष लक्ष्मी को त्यागते नहीं हैं, किन्तु जब लक्ष्मी छूट जाती है तब ये शोक करते हैं । ज्ञानी पुरुष को कितना स्पष्ट निर्णय है? पहली बात यह समायी हुई है कि मेरे आत्मस्वरूप के सिवाय बाकी अन्य सब कुछ नहीं है । यह सब पुद्गलों का ठाटबाट मेरा कुछ नहीं है । पहिले तो यही बात समायी हुई है । दूसरी बात यह है कि इस वैभव को मेरे हाथ पैर नहीं कमाते हैं, भाव उत्तम हो पुण्य का उदय हो तो ऐसी ही बुद्धि से श्रम की ओर भाव जगता है कि जिस पुण्योदय से यह सर्वसाम्राज्य वैभव अनायास ही थोड़े से प्रयत्न से प्राप्त हो जाता है । जैसे छाया को पकड़ने जायें तो उस छाया को पकड़ने में हम सफल नहीं सकते । जैसे-जैसे हम छाया को पकड़ते जायेंगे वैसे ही वैसे छाया दूर होती जायेगी और जैसे-जैसे छाया से विमुख होकर किसी उल्टी ओर जायेंगे तो यह छाया पीछे-पीछे चलेगी । अथवा इस बात से भी क्या मन बहलाना है ?

ज्ञानीपुरुष को तो यह सब कुछ असार और अहित जँचता है ।

ज्ञानी का पराक्रम—जो सत्य पराक्रम के स्वामी हैं, जो अपना विक्रम आजमाया करते हैं वे पुरुष त्याग करें तो अपने में गौरव का अनुभव करते हैं । यह गौरव है, स्वाभिमान है और त्याग की अन्तःप्रसन्नता है, किन्तु इससे भी ऊपर ऐसा तत्त्वज्ञान होता है कि वह लक्ष्मी को त्याग करता? हुआ न तो शोक करता है और न गर्व करता है, ये सब ज्ञान की महिमा है । कोई पुरुष ज्ञान में अपना कुछ, वैभव पाकर अभिमान पुष्ट किया करता है और कोई पुरुष ज्यों-ज्यों विशिष्ट श्रीमान् होता जाता है त्यों-त्यों नम्र होता जाता है । जैसे-जैसे फल विशेष लगते हैं पेड़ में वैसे ही वैसे वह पेड़ नम्रीभूत होता जाता है । बड़े पुरुष का नम्र होना यह बड़प्पन की निशानी है, तो जो तत्त्वज्ञानी जीव है वह इस वैभव को त्यागते हुए न शोक करेगा और न गर्व करेगा । लौकिक पराक्रमी पुरुष तो किसी कारण से, अपने उत्साह से धन आदिक का त्याग कर दे तो उसे गर्व होता है कि मैंने ऐसा कार्य किया । उसके अन्तरंग में यों अहंबुद्धि बनी रहती है, और जो पराक्रमरहित है, कायर है, विषयबाधा से बद्ध है और इसी कारण जिनके आत्मबल नहीं प्रकट हो पाता है । उन प्राणियों के किसी कारण से धन आदिक का बिछुड़ना हो तो उनके शोक उत्पन्न होता है । जो शुद्ध निश्चल ज्ञान की भक्ति से ज्ञान की उपासना में लगे रहते हैं उनके भीतर ज्ञान के कारण अज्ञान का संकट सब दूर होता है और जो विषयों से बँधे हुए कायर हैं उनके सामने संकट और विशेष आ जाते हैं ।

तत्त्वज्ञानी का ज्ञान व त्याग—अहो ! वे विलक्षण संतजन धन्य हैं जो अपने आपमें अपने आपके स्वभाव का ध्यान करके अपने को अनाकुल बना लेते हैं, और आश्चर्य की बात है अथवा युक्त बात है कि जो तत्त्व-ज्ञानी पुरुष हैं उनके धन छूट जाये तो उनके न शोक उत्पन्न होता है और न गर्व उत्पन्न होता है । इस कारण जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, वे धन वैभव को परद्रव्य जानते हैं, और पर तो पर थे ही, उनका त्याग हो गया तो उससे ज्ञानी पुरुष को न शोक होता है, न गर्व होता है । दूर तो था ही, जरा और दूर हो गया । धन वैभव मेरे आत्मा में मिला हुआ नहीं है, दूर तो वह है ही पहिले से ही । अब क्षेत्र में और दूर हो गया । कोई शोक नहीं होता है ज्ञानी पुरुष को और परमार्थ से त्यागना भी क्या ? अपने स्वरूप को जान जावो कि यह मैं हूँ और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब पर है इतना दृढ़तापूर्वक ज्ञान होने का नाम है वस्तु का त्याग । कोई वस्तु आत्मा में चिपकी नहीं है, जो उसका त्याग किया जाये । बस इसे दृढ़ता से जान भर लो ऐसे ही,बस इसी का नाम है बाह्यवस्तुवों का परित्याग ।

ज्ञान और वैराग्य का शरण-—सम्यग्ज्ञान ही हम आपको शरण है । अब अपनी-अपनी जीवनी देख लीजिए कि ज्ञान के अर्जन के लिए हम कितना तो शरीर लगाते हैं कितना मान लगाते हैं और कितना उत्साह जगाते हैं, कैसी हठ मानते हैं? इसका भी अन्तर देख लीजिए । धर्म के झुकाव में यह कुछ आगे भी ले जायेगा और जड़ वैभव के झुकाव में यह कुछ भी न पा सकेगा । अपने तन,, मन, धन, वचन सब इस आत्महित में, ज्ञानार्जन में लगाना है । यह जीवन ज्ञान के अर्जन के लिए है, विषयों के सेवन के लिए नहीं है । ऐसा दृढ़ निर्णय न रहे तो उसने धर्म को पाला ही क्या है? पुण्य के अनुसार जितनी लक्ष्मी आये, आने

दो । हम तो साहस करके उस ही में समस्त गुजारा कर लेंगे । इस जीवन को सम्यज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की आराधना में लगावो । यह वैराग्य का और ज्ञान का मार्ग हम आपको शरण है । विषयकषायों में फंसना, अनुरक्त होना यह केवल क्लेश ही उपजाने का एकमात्र साधन है ।

श्लोक (१०६)

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृतिमृतिपर्यन्तमखिलं,
मुधाप्येतत् क्लेशशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधी:
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ।। १०६ ।।

शरीर की क्लेशकारणता—पूर्व छन्द में यह बताया था कि जो मूर्ख लोग होते हैं वे लक्ष्मी के वियोग के समय शोक किया करते हैं और जो पराक्रमी पुरुष हैं, वे वैभव के त्याग में गौरव अनुभव करते हैं और जो विशेष ज्ञानी तत्त्वज्ञ पुरुष है, वे न हर्ष करते हैं, न शोक न गौरव, किन्तु मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं । वैभव के त्याग को उक्त छंद में उपादेय बताया है । इस छंद में शरीर के मोह को छुटाने का उपदेश है । यह शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त क्लेश का ही कारण है । आज इस शकल सूरत में हम आप बंधे पड़े हुए हैं तो दूसरों की शकल सूरत निरखकर यह जानकर कि ये ही जीव हैं, इनको देखकर सन्मान और अपमान की बात मानना; सम्बन्ध, हितू अनिष्ट बातें मानना जानना है तो इस क्लेश का भी कारण यह शरीर है । क्या जीव के नाक आंख कान की शकल होती है ? यह सब कर्मोदय की रचना है । जीव तो इस देह में भी अमूर्त केवल ज्ञान दर्शन मात्र है । इस शुद्ध जीव को निरख कर कोई बात नहीं की जा रही है ।

व्यवहारी जीव से व्यवहार—भैया ! जो कोई बात करता है तो इस नाक आंख कान की शकल को देखकर बात करता है । उस अमूर्त जीव पर किसकी दृष्टि है, और जगत् में बातों-बातों का ही क्लेश है । किसी मनुष्य से बात करना ही बन्धन का कारण है । कोई कुछ बोलेगा तो या तो वह राग भरा वचन होगा अथवा द्वेष भरा वचन होगा । रागयुक्त वचन बोलने में भी बन्धन है और द्वेष से भरे वचन बोलने में भी संकट है । रद्दी आवाज से बोलने वाली चिड़ियों को कौन पकड़ता है? तोता मैना आदिक ये पक्षी क्यों पकड़े जाते हैं? वे पक्षियों में अच्छा बोलना जानते हैं । रागभरा कोई शब्द बोलने पर दूसरे जीवों की ओर से भी रागभरा नम्रताभरा वचन मिलता है सुनने को, तब यह उस ओर और अधिक झुकता है और इस झुकाव के फल में जीवन में एक ऐसा बन्धन बंध जाता है कि इसके परतंत्रता प्रकट हो जाती है, स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है । धन्य है वे पुरुष जो अपने में इतना साहस बनाये हैं कि वे किसी भी परजीव से अनुराग से स्नेह नहीं करते हैं, किन्तु यथार्थतत्त्व के ज्ञाता रहते हैं ।

स्थावरों के शरीर की भी क्लेशकारणता—सब क्लेशों का कारण यह शरीर है । वनस्पतियों में भी देखो जंगलों में कैसे-कैसे फूल खिलते हैं, अपने आप खिर जाते हैं, उन्हें कोई उठाता भी नहीं है और गुलाब के

फूल जो दिखने में भी सुहावने होते हैं और जिनमें सुगंध भी तेज होती है वे फूल तोड़ लिए जाते हैं । मशीनों में मसल दिये जाते हैं इत्र निकाल लिया जाता है । देखो यहाँ भी जो रूप से या गंध से दुनिया को अपनी महिमा बता रहे हो । ऐसे फूल भी तोड़कर कुचल दिये जाते हैं । पत्थरों में जैसे पत्थर हैं तैसे ही लोहा है, सोना है, चांदी है, हीरा है, रत्न है, सब ही तो पृथ्वी हैं पर यह देशी पत्थर अत्यन्त ऊबड़ खाबड़ कैसा उठा हुआ होता है, इसे कौन सताता है । संगमरमर पत्थर एक भी खाली नहीं रह पाता है । इन्हें तोड़ा जाता है, कूटा जाता है, छीला जाता है क्योंकि जरा रंग के सुहावने हैं । और स्पर्श भी चिकना कोमल है । ये हीरा रत्न किस तरह तोड़े जाते हैं, बरी दुर्गति की जाती है । सान पर चढ़ाकर उनकी राख निकाली जाती है, और इन पूर्वजों के पत्थरों को कोई नहीं तोड़ता है ।

विलक्षण गोरखधन्धा—लोक में यही तो गोरखधंधा है । कहते हैं कि पुण्य का उदय है । अरे पुण्य का उदय है तो दूसरों से सताया जानें के लिए है । बिरला ही प्राणी बचता है दूसरों के द्वारा सताये जाने से । पाप के उदय भी दु:ख के कारण है और पुण्य के उदय भी परमार्थ से दु:ख के कारण है । अन्तर इतना भर है कि पुण्य के उदय वाले तो अपने को सुखी मानते हैं । पर है अन्तरंग से वे भी दु:खी है । कभी कोई झगड़ा विवाद हो जाये तो इसका भी कारण यह शरीर है । कोई जीव जीव के स्वरूप को देखकर झगड़ा नहीं मचाता, किन्तु इसही शरीर की शकल सूरत को देखकर इसने मुझे यों कहा, उसकी यह प्रतिष्ठा भी नहीं रखता, बस इन विचारों से विवाद कलह हो जाता है । सच जानो अपने-अपने शरीर को निरखकर छूकर यह निर्णय करो कि हमारे समस्त क्लेशों का कारण यह शरीर है । शरीर न रहे बिलकुल मेरे पास तो उसकी क्या स्थिति होगी । मैं केवल कहलाऊंगा । केवल केवल सिद्धों को बोलते हैं । जो केवल रह गये, सिर्फ आत्मा ही आत्मा रह गये उनका नाम सिद्ध है । वे अनन्त आनन्दमय है, सदा के लिए संकटों से छूट गए है । ऐसे सिद्ध होने की मन में अभिलाषा रक्खो ।

मोह का व्यर्थ आग्रह—यह परिवार, यह वैभव अनेक भवों में पाया है, इससे भी अधिक आज्ञाकारी विनयशील परिवार अनेक भवों में पाया है, पर सबको छोड़ना पड़ा । हिम्मत बनावो निर्मोह होने की, मोह तो कायरता है और भीतर में निर्मोहता का भाव बनाना सो धीरता है । जो सत्य बात है उसको ही समझने में दृढ़ बने रहो, इतनी सी तो बात है । किसी झूठ को सत्य मानते हो तो उसमें कष्ट है । खूब देख लो, सोच लो कि सभी जीव अपने से न्यारे है या नहीं । खूब सोच लो, उनका तो विश्वास है । जो पहिले मिले हुए परिजन थे वे आज घर में नहीं हैं, इनके प्रति तो ऐसी बात बैठ गयी कि वे मेरे न थे, जुदे जीव थे और जो जीव आज समागम से है, अपने पास में है उनके प्रति यदि अन्तरंग में यह ज्ञान जग जाये कि ये भी अत्यन्त भिन्न है, मेरा स्वरूप मुझमें है दूसरों का स्वरूप उनमें ही है, ये अपनी ही करनी के अनुसार किसी गति से इस गति में आये हैं और इस गति से अन्य गति में चले जायेंगे, मैं अपनी करनी के अनुसार किसी गति से आया हूँ और किसी गति को जाऊंगा, यहाँ तो सब जीवों में अपना-अपना स्वतंत्र-स्वतंत्र रवैया है ये भी जुदे हैं—ऐसी स्वतंत्रता की समझ बन पायी तो धर्मपालन तब किया । और इतनी समझ न बने तो चाहे

चांदी के फूल चढ़ाओ चाहे खूब सजाकर द्रव्य चढ़ाओ यदि भीतर में यह अज्ञान नहीं मिट रहा तो शान्ति तो मिलेगी ही नहीं । यह बात अपनी-अपनी निज की है ।

अन्त:धर्मपालन—भैया ! लोगों से ऐसा घर में कहो कि तुम न्यारे हो, जुदे हो, हमारे कुछ नहीं हो, दुर्गति की खान हो—ऐसी झगड़े की बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु अपने ही मन में इस ज्ञान का घूँट उतार लें और बोझ को अपने उपयोग से हटा ले अपने आपको अकिञ्चन् ज्ञानमात्र अनुभव करते रहें तो बड़ी शान्ति मिलेगी और भी देखो—कोई साधारणसा शारीरिक रोगी भी हो, रोग की कोई वेदना भी हो तो बिल्कुल सच समझो । सबसे भिन्न अकिञ्चन् ज्ञानमात्र अपने को अनुभवते रहने से वे रोग भी दूर हो जायेंगे । आत्मनिर्मलता में बड़ा प्रताप है । ये औषधि और तन्त्रमन्त्र, ये काम न करें, किन्तु आत्मा की निर्मलता इस रोग को दूर करने में काम करती है । धर्मपालन में सब लाभ ही लाभ है । हानि का तो नाम नहीं है, पर धर्मपालन नाम है मोह के न रहने का, अपने आपको सबसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप निहारते रहने का । यह धर्मपालन हो तो सारे संकट दूर होंगे । धर्मपालन कितना सुगम है, उसमें यह भी जरूरत नहीं कि नहाकर बैठे, तब तो धर्म मिलेगा या कुछ मुकुट कंकड़ा कड़ा छाला पहिनकर बैठें, इन्द्र इन्द्राणी का रूप बनाकर बैठे तो धर्म मिलेगा । अरे ! अपने अन्तरंग में जरा स्वरूप का विचार बन गया, धर्म हो गया । उस धर्म में अलौकिक प्रताप है, इससे स्वस्थ्य भी रहेगा और प्रसन्न भी रहेगा ।

देहविविक्त अन्तस्तत्त्व के दर्शन की महिमा—भैया ! इस शरीर से प्रीति न करें और प्रीति कब तक करते रहेंगे? शरीर की अन्तिम गति क्या होगी? लोग बड़ी जल्दी इस शरीर से निकलकर ठठरी पर कसकर जला ही देंगे इस शरीर को । अपने आपके शरीर को देखकर बोलो कि यह किसी दिन बेरहमी से जला दिया जायेगा । यह है इसकी अन्तिम गति । भला हो कि अभी से इस शरीर से अपने को भिन्न मानते रहो, तो इसमें शान्ति होगी, धर्म मिलेगा, भविष्यकाल बड़ा सुखमय व्यतीत होगा । कभी ऐसी आशंका हो जाये कि लो अब तो मैं मरसा रहा हूँ, कुछ जान सी ही नहीं रही, दिल भी कुछ काम नहीं करता । अरे यदि मर गये तो भी क्या नुकसान है? यह मैं आत्मा तो पूरा का पूरा यहाँ नहीं रहा, लो दूसरी जगह रहा । इस मुझ आत्मा में बिगाड़ क्या हो सकता है ? मेरा बिगाड़ तो मोहभाव से हैं ? मोही है तो बिगाड़ हैं । इस शरीर से क्या प्रीति करते हो? जो गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त कष्ट का ही कारण रहा । वे कष्ट सभी जानते हैं ।

देह की सदा अपवित्रता—यह शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त अपवित्र-अपवित्र ही रहा । कभी इतना भी नहीं हुआ कि आज दशलाक्षणी का पहिला दिन है तो सोने का तो बन जाये, यह शरीर एक दिन तो ठीक हो जाये । बड़ा धर्म कर रहे हैं । बड़े शृङ्गार से शरीर को सजाया है? एक दो मिनट को भी यह शरीर कंचन का बन जाये । अरे गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त प्रतिक्षण यह अपवित्र ही अपवित्र रहा । किसी को राग हो शरीर से तो राग में शरीर सुन्दर दिखता है, शरीर में सुन्दरता कुछ नहीं है । मांस—मांस का पिंड ही सर्वत्र है । सुन्दरता की बात क्या? यह तो सब जगह दुर्गन्ध दुर्गन्ध ही फैलाता है । शरीर दुर्गन्धित न होता तो इत्र फुलेल की आवश्यकता न थी । शरीर कुरूप न होता तो अच्छे-अच्छे कपड़ों से सजाने की आवश्यकता न थी

। राग में यह जीव अपने शरीर को अथवा दूसरे के शरीर को यह सुन्दर है इस प्रकार निरखता है । शरीर में सुन्दरता कुछ नहीं है भला बतलावो किशोर अवस्था में अथवा जवानी अवस्था में थोड़ासा मांस अधिक चढ़ा हुआ है और जरा अवस्था ढली तो इतना ही तो हुआ कि थोड़ासा मांस पतला हो गया । इतने में ही सुन्दरता कहां भाग गयी । कौनसी बड़ी गड़बड़ी हो गयी ? सुन्दरता तब भी न थी; सुन्दरता अब भी नहीं है । जिसको जिससे राग होता है उसको वह सुन्दर लगता है ।

अपवित्रता का सौन्दर्य—एक सेठानी ने नौकरानी रक्खी । दो एक दिन ही हुए । सेठानी का लड़का स्कूल पढ़ने जाता था । एक दिन वह लड़का अपने साथ खाना ले जाना भूल गया । मिठाई का टिफिन न ले जा पाया, तो सेठानी कहती है नौकरानी से कि यह मिठाई का टिफिन ले और मेरे बच्चे को दे आ अमुक स्कूल में तो नौकरानी कहती है कि हम तो तुम्हारे बच्चे को पहिचानती ही नहीं हैं । तो सेठानी कहती है कि हमारे बच्चे को क्या पहिचानना, सारे स्कूल में जो सबसे अच्छा बच्चा हो, वही तो मेरा बच्चा है । उस सेठानी को गर्व था कि मेरा जैसा बच्चा किसी का नहीं है । उसी स्कूल में नौकरानी का भी बच्चा पड़ता था । वह नौकरानी टिफिन बाक्स लेकर स्कूल गयी तो वहां सभी बच्चों को देखा । उसे कोई बच्चा अच्छा न दिखा । उसे तो अपना ही बच्चा अच्छा दिखा । उस अपने ही बच्चे को मिठाई देकर नौकरानी चली आयी । शाम को जब सेठानी का बच्चा घर आया तो मां से रोकर कहता है कि आज तुमने हमें मिठाई खाने को नहीं भेजी । तो सेठानी ने कहा कि नौकरानी के हाथ भेजी तो थी । नौकरानी को सेठानी डांटने लगी । तो नौकरानी कहती है कि तुमने ही तो कहा था कि स्कूल में जो सबसे सुन्दर बच्चा है वही तो हमारा बच्चा है । सो हमें तो हमारा ही बच्चा सुन्दर लगा, उसी को सारी मिठाई खिलाकर मैं चली आयी । तो जिसके प्रति राग है बस वही सुन्दर है और सुन्दर कुछ नहीं है । ये तो मांस चाम के पिंड है ।

शरीर का अटपटापन—यह शरीर ऊबड़ खाबड़ बना है । मान लो ये मनुष्य के जैसे नाक कान न होते, बिल्ली शेर की तरह चिपटी नाक के होते तो क्या सुन्दर जंचते? सुन्दर न जंचते, यदि राग है तो । चाहे चार पैर वाले जानवर ऐसा सोचते हों कि ये कैसे विकट जानवर है कि दो पैरों के बल खड़े हैं, ऐसी नाक उठी है, उन जानवरों को यह मनुष्य का शरीर बड़ा बेडौल लगता होगा । हम जानवरों को बेडौल देखते हैं । कुछ वास्तव में सुन्दर नहीं है । यह शरीर ही समस्त संकटों का कारण है । शरीर नहीं, शरीर में जो मोह पैदा होता है वह है संकट । जितना डर है वह शरीर के कारण है । केवल आत्मा हो, शरीर का सम्बन्ध न हो तो बिजली भी तड़क जाये, काहे का डर ? यह ददक जाता है जरासी आवाज में । जितने अपमान और पराभव होते हैं वे इस शरीर के कारण हैं । ऐसे इस शरीर को भूलो तो सही, विचार तो करो । हे ज्ञानी सत्पुरुष ! इसका मोह अनुराग छोड़ दो ।

अशरीरता में शाश्वत आनन्द—देखो भैया ! वास्तव में सुख मुक्ति में है और इस शरीर के त्याग से मुक्ति मिलती है, अनन्त आनन्द इस शरीर के त्याग से मिलता है । तू इस अनन्त आनन्द को नहीं चाहता क्या? लोक में कहावत है कि तुझे आम खाने से काम या पेड़ गिनने से काम । तुझे अनन्त आनन्द चाहिए या यहाँ

के तर्क वितर्क चाहियें । इस शरीर के विकल्प से मुक्त होने पर सशरीर अवस्था में भी आनन्द ही आनन्द मिलता है और फिर यह शरीर बहुत देर तक टिक न सकेगा । सर्वदा के लिए मुक्त होकर यह आत्मा अनन्त आनन्द का अनुभव करेगा । इस शरीर का मिलाप जो होता है यह दुष्टजनों के मिलाप की तरह जान । मुझ ज्ञानमय आत्मा के साथ एक ऐसा दुष्ट लगा है कि शांति नहीं मिल पाती । वह कौनसा दुष्ट है जो मेरे साथ ऐसा चिपका हुआ है कि मुझे छोड़ता ही नहीं है? एक भव में गुजर जाऊं तो दूसरे भव में फिर आगे तैयार है । इस शरीर का मिलाप दुष्टजनों के मिलाप की तरह है ।

शरीर की अरम्यता—देखो इन बातों में एक भी बात सामने आए तो विवेकी पुरुष पसंद नहीं करते । अपवित्रता, डर, अपमान और पाप में से एक भी बात ज्ञानियों को पसंद नहीं है और इस शरीर में ये सबकी सब बातें पड़ी हुई है । तब क्या यह शरीर मोह और प्रेम करने के योग्य है? जो समस्त अवगुणों की खान है, उससे लाभ कुछ भी नहीं है । इसके छोड़ने से ही और वैभव सम्पदा व समस्त परवस्तुओं के त्याग से ही मुक्ति होगी । इस शरीर के मिलाप को भी दु:खमय जानकर इसका मोह तो छोड़ना ही श्रेयकर व सुखमय है ।

श्लोक (१०७)

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं,
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम् ।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः
ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ।। १०७ ।।

संसारप्रक्रिया से विपरीत चर्या का अनुरोध—अज्ञान और रागादिक भावों की चेष्टाओं से जो बारम्बार जन्म मरण आदिक फल पाया है तो अब ऐसा कर कि जिस विधि से जन्म मरण के दु:ख का फल पाया है, यदि उसका उल्टा चलने लगे तो संसार संकटों से विपरीत फल तुझे मिल जायेगा । वह फल क्या है? वह फल शांति मोक्ष है । लोक में जिस कारण से जो कार्य भी उत्पन्न होता है, उससे उल्टा कारण मिलने से उल्टा ही फल प्राप्त होता है । जैसे कर्मों से कोई रोग हो जाए तो उस रोग का मिटाना किसी औषधि से ही होगा । इसी तरह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जो संसार का परिभ्रमण चलाया है, इसके विपरीत अपनी परिणति हो तो सब संसार के भ्रमण मिट सकेंगे ।

हे भव्य जीव ! अज्ञान और असंयम से जन्म मरण आदिक दु:खरूप फल पाया है, सो यह बार-बार पाया है । यदि एक बार भी धोखा हो जाए तो उसमें यह अज्ञान भी न बैठेगा कि मुझे इस बात से धोखा हुआ है, परन्तु बार-बार अज्ञान अविरति के परिणाम करता है और उनके कारण बारबार जन्म मरण आदिक दु:ख भोगता है तो अब भी कुछ संदेह है? एक बार कोई विरुद्ध काम हो आए तो न भी पता रहे उसका, किन्तु जब बारबार तू अपनी विपरीत परिणतियों से धोखा खा रहा है तो अब सदेह की बात तो कुछ भी नहीं

रही । तू मोह करता है इससे संसार में रुलता है । कषायभाव करता है, इससे दु:खी रहा करता है । अब तू ऐसा कार्य कर कि जिससे संसार के समस्त संकट दूर हों । जैसा कार्य तू करता आया है, उसके विपरीत करने लग । मोह करता आया तो अब निर्मोह वृत्ति जगा । निर्मोह वृत्ति से सांसारिक संकट दूर होंगे ।

क्लेशनिदान की स्पष्टता होने पर भी प्रमाद करने पर खेद—जब कोई रोग बार-बार हो जाता है, तब तो यह निर्णय हो जाता है कि मुझे इस कारण तकलीफ हुआ करती है । कभी कदाचित् कोई एक बार खाये और उसमें हो जाये बीमारी, तो भले ही उसमें निर्णय न हो सके कि मैंने ऊटपटांग खाया और जितने बार खाया, उतने ही बार रोग बना तो उसमें अब संदेह नहीं होना चाहिए कि मुझे यह रोग क्यों हुआ? इसी प्रकार इन संसारीजनों ने बार-बार अज्ञान और असंयम का सेवन किया है और बार-बार ही जन्म मरण के दु:ख भोगे हैं, अब तो ये नहीं रहना चाहिए ।

जैसे कोई जब इमली खाये, तब ही देह में दर्द हो, तो उसे यह ही निर्णय रहेगा कि इमली के खाने से ही यह वायु का दर्द हुआ है । भ्रम तो नहीं रहता । यदि दूसरा कोई खाया करे तथा उसको रोग होवे तो भी भ्रम रह सकता है । जब खुद पर कोई बात बारबार बीतती है तो फिर उसमें भ्रम का क्या कारण है, अब यह निश्चय करो कि अज्ञान और मोहरूप परिणमन करने से तो क्लेश होता है और अब इसके विपरीत ज्ञानव्रत, संयमरूप परिणमन करे तो नियम से क्लेश मिटेंगे । जिन परिणामों से संसार बड़ा है उनसे उल्टा चलें तो मोक्षमार्ग मिलेगा ।

स्वयं के प्रयोग का अवबोध—यद्यपि मिथ्यात्व अज्ञान आदिक खोटे भावों में रहने वाले लोक में अनेक जीव है और मोक्षमार्ग में लगने वाले जीव थोड़े हैं, लेकिन तू अपने आपमें अनुभव करके तो देख—यदि सत्यश्रद्धान् सत्यज्ञान और उस रूप ही उपयोग हो, ऐसी कभी वृत्ति जगती है तो तेरा कष्ट कम होता है या नहीं? कम होता है । तो जिस उपाय से कष्ट कम होता है, उस उपाय में यह विश्वास पूरा रहेगा कि यह उपाय पूर्णरूप से बने तो कष्ट का नाम नहीं रह सकता । अब कष्ट के उपाय से विपरीत चल । देख तेरा आत्मा और आत्मा से सम्बंधित ये शरीर आदिक पदार्थ और कल्पना किए गये वैभव परिजन आदिक इनमें तू भेद कर । छोड़ते न बने तो भी यथार्थ ज्ञान में कौनसा कष्ट है ? यह सब भीतरी तपश्चरण की बात है । जो जीव यथार्थ ज्ञान बनाये रहता है, अन्तरंग में सबसे निराले अपने स्वरूपास्तित्त्वमात्र इस ज्ञानानन्दघन को अपने उपयोग में बसाता है, ऐसा उसे पूर्ण निर्णय है तो उसके संकट अवश्य मिटेंगे ।

कार्यकारण योग—भैया ! यह तो एक गणित जैसा उत्तर है । यदि बीज बढ़िया है गेहूं का, चने का और वातावरण भी उत्तम है तो प्रतिबन्धक के अभाव में बो देने पर उगेगा ही, और यदि बीज घुना है, उसकी जो नाकसी होती है वह निकल गयी है, उपादान अयोग्य है तो वह बीज बो देने पर भी उग नहीं सकता है । जैसे अग्नि पर बटलोही में पानी चढ़ा देने से प्रतिबन्धक के अभाव में वह गरम हो ही जाता है और ठंडे स्थान में रख देने से वह ठंडा हो जाता है । निमित्तनैमित्तिक योग में जो जिस तरह होना होता है वह होता ही है । तो यहाँ भी यह निर्णय करो कि मोह के करने से जन्म मरण की परम्परा बढ़ती ही है, तब

यथार्थज्ञान होने पर मोह के छूटने से यह जन्म मरण की परम्परा दूर हो जायेगी । अपने हित के लिए तू ऐसा ही यत्न कर कि यह जन्म-मरण की परम्परा, विषयकषायों के अभिप्राय ये सब तेरे समाप्त हो जायें ।

प्रवृत्ति की भावनानुसारिता—जो मनुष्य जिस तत्त्व की बार-बार भावना करता है उसको उस तत्त्व की प्राप्ति होती है । अपने को कोई मैं मूर्ख हूँ, मैं मूर्ख हूं—ऐसा बार-बार विचारे तो रही सही बुद्धि भी बिगड़ जाती है । कोई अपने कुछ ज्ञानयुक्त कार्य भी करता हो और यह समझता हो, इसे मैं ठीक निभा ले जाऊँगा तो उसकी बुद्धि में कुछ विकास होता है । जो अपने को मैं तो दुःखिया हूँ, संसार में रुलने वाला हूं—ऐसा ही विश्वास में लिए रहे तो वह संसार में रुलेगा ही । जो सांसारिक समागमों से विरक्त यह मैं ज्ञानमात्र, स्वयं ही स्वरूपतः सिद्ध और मुक्त हूँ, ऐसा प्रतीति में लाये तो उसको मुक्ति निकट मिलेगी । कभी-कभी नाटकों में नाटक करने वाले पुरुष जब अपने आपको भूल जाते हैं और जिसका पाठ किया है उस ही रूप अपने को मान लेते हैं तो वे यदि किसी को मारने का पाठ कर रहे हैं तो मार ही देंगे? क्योंकि अपने आपको भूल गये ना कि मैं अमुक हूँ और मैं तो यह नाटक कर रहा हूँ । जैसी अपने में भावना बनायी, वैसी ही इस पर गुजरती है ।

सद्भावना—कोई पुरुष कैसी भी कठिन स्थिति में ऐसी भावना बनाये कि मैं लाखों, करोड़ों पुरुषों से अच्छा हूँ, मुझे सर्वसाधन प्राप्त है, धर्म के लिए मुझे अवसर है तो वह कठिन और दरिद्र स्थिति में भी अपने को प्रसन्न रखता हुआ निभा ले जायेगा और कोई धनिक सम्पन्न होकर भी तृष्णावश अपने को यों निरखता रहे कि मैं तो बढ़ा दुःखी हूँ, मेरी आवश्यकताएँ ही पूर्ण नहीं होती हैं, एक न एक संकट मेरे सामने हैं तो वह पाये हुए समागम का भी सुख नहीं ले सकता है । जो अपने को जिस रूप विचारना है, वह अपने को उस रूप ही परिणम लेता है । ज्ञानी पुरुष अपने को निरन्तर ज्ञानमय प्रतीति में लिए रहते हैं इसी कारण उनका ऐसा प्रकाश है, वे किसी भी समय में भ्रम में नहीं आते हैं, किसी के बहकाये नहीं बहकते ।

सुख दुःख की निर्णाकता—जिसके सम्यक् ज्ञान जग गया है, वह उसका अमिट ज्ञान है । सुख और इसका फैसला इस ज्ञानभावना में है । यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, सबसे निराला अकेला हूँ, मेरा मेरे में ही उत्तरदायित्व है, मैं अपने आपका ही स्वामी हूं—इस प्रकार जो अपने आपमें अपने आपके एकत्व का निर्णय रखता है उसे संसार संकट नहीं हैं । जिसे अपने आपके स्वरूप का भान भी नहीं है, जिस शरीर में यह बस रहा है उस शरीरमात्र ही अपने को निरखता हो तो विपरीत बुद्धि होने पर इसको सारी बातें प्रतिकूल लगेंगी, तब इसे क्लेश ही होगा । आत्मन् ! यदि सत्य शान्ति चाहते हो तो अपने आपको सबसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र समझना ही पड़ेगा । इस सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त संसार में अन्य कोई उपाय नहीं है जिससे इसके संकट मिट सकें । अज्ञान में जो भी यह प्रयत्न करेगा उससे इसके दुःख ही बढ़ेंगे, दुःख दूर न होंगे । यों श्री गुणभद्र आचार्यदेव ने इस बात पर दृष्टि डाली है कि दुःख से तुझे दूर होना है तो जिन चेष्टावों से दुःखी होता हो, उनसे तू विपरीत चलने लग तो तेरा दुःख समाप्त हो जायेगा । तब किस प्रकार चलें? उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं—

श्लोक (१०८)

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः
पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं
विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ।। १०८ ।।

सत्पथगमन का अनुरोध—दया, इन्द्रियदमन, त्याग, समाधि इनके पथ में तू अपनी प्रवृत्ति कर । इसकी जो परिपाटी है उस मार्ग में तू यत्न करता हुवा सीधा निष्कपट गमन कर । यह मार्ग तो एक परमपद रूप है, जो वचनों से नहीं कहा जा सकता है । इस मार्ग से तू अवश्य कल्याण का साधन पायेगा । दया नाम है अपनी और परजीव की करुणा करना । करुणा करने वाला जिस परिस्थिति का होगा इस ही प्रकार की छोटी और बड़े ढंग की करुणा उत्पन्न होगी । ज्ञानीजन इन जीवों पर मौलिक करुणा करते हैं । थोड़ी वर्तमान शान्ति के लिए वचन विस्तार का सुख लूट लिया तो इससे जीव का पूरा तो न पड़ेगा । इस जीव का कष्ट सदा के लिए दूर हो, ऐसा प्रयत्न करे यह तो इसका पूरा पड़ेगा । ज्ञानीपुरुष जीवों के प्रति ऐसा चिन्तन करता है कि इनको ऐसी सद्बुद्धि आ जाये, ऐसा ज्ञान जग जाये, जिस ज्ञान द्वारा यह अपने आपके यथार्थस्वरूप को पहिचान जाये । इससे सदा के लिए संकट मिट जायेंगे ।

विदेह बनने में देह की उपेक्षा का मूल सहयोग—देखिये यह तो युक्तिसंगत बात है ना, कि जिससे प्रेम किया जायेगा, वह अपने साथ लग जायेगा । यदि कोई अनिष्ट मित्र अपने साथ लग गया है तो उसका उपाय यह है कि प्रीति न करे, उपेक्षा भाव कर दे तो वह टल जायेगा । ऐसे ही जब तक हम शरीर से प्रीति रखते हैं, शरीर को अपनाते हैं तब तक यह निश्चय समझिये कि यह शरीर मेरे साथ लगा रहेगा । एक शरीर को छोड़ेगा तो अगले भव में नया शरीर लग जायेगा । इस शरीर से यदि सदा के लिए मुक्त होने की इच्छा है तो इस शरीर से प्रीति न करिये । शरीर से प्रीति करते जायें और उससे मुक्ति चाहे तो यह बात नहीं हो सकती । प्रथम कर्तव्य है जिससे हम डरना चाहते हैं उससे उपेक्षा कर दें । ज्ञानी जीव जीवों पर ऐसी परम करुणा का भाव करते हैं कि इन्हें सन्मति जगे और भेदविज्ञान प्रकट हो कि सदा के लिए संकट मिटे । कुछ उनसे कम ज्ञानीजीव हों तो वे कुछ व्यावहारिक अच्छे आचार विचारों में लगा देने की करुणा करते हैं और बाकी कोई दयालु पुरुष दया करते हैं तो उसका जो ऐहिक संकट है, भूख होना, प्यास होना अथवा उसके रहने का कोई साधन न हो तो उन बातों को लेकर उनके दुःख दूर करते हैं, ऐसी उनकी करुणा जगती है ।

करुणाभाव में आत्मस्पर्शन का स्थान—करुणाभाव में कुछ न कुछ आत्मस्वरूप का स्पर्श होता है । दूसरे जीवों पर दया तभी उत्पन्न होती है जब इस तरह की कोई बात खुद में भी अनुभूत हो जाती है । अपने आपमें वेदना हुए बिना दया का भाव पैदा नहीं होता । दूसरे जीव की वेदना देखकर अपने आप में कुछ वेदना बनेगी तो उस पर दया बनेगी । जब कभी आप हम खुजैले दुःखी कुत्ता बिल्लियों को देखकर या

जिसकी हड्डियां निकली है ऐसे भैंसा, बैल जिनके गर्दन पर कुछ फोड़ा और खून चूता है और उन्हें कोई अपनी गाड़ी में जोतकर चाक मारकर चलाते हैं, उन्हें देखकर जो दया आती है सो उसका मूल यह कि खुद में भी ऐसा अनुभव हो जाता है कि ऐसा यदि मैं होता तो कितनी मुझे वेदना होती? ऐसी कुछ उसके निकट पहुंच किए बिना, वेदना हुए बिना दया का अंकुर उत्पन्न नहीं होता । यह दया का भाव शुभभाव है । यह विषयकषायों की कलुषता को दूर करने का एक सुगम साधन है । हम दया के पंथ में चलें ।

आत्महित में इन्द्रियदमन का सहयोग—इन्द्रियदमन से इन्द्रिय के विषय रुक जाते हैं । ज्ञानबल से विषयों को रोक लेना यह है इन्द्रियदमन । हितार्थी आत्मन् ! तुम दमन के पंथ में लगो । कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उनके मन में कोई इच्छा जग जाये कि हम आज अमुक चीज खावेंगे, तो इच्छा तो जग गयी, मगर थोड़ी देर बाद उस ही वस्तु का त्याग कर देते हैं जिसकी कि इच्छा जगती है । क्यों उपयोग कर करके इच्छा जगती है ? साधारण सुगम प्रयत्न से जो बात बने वही भोगा जाये । इन्द्रियों ने जैसा जो कुछ चाहा, उनकी पूर्ति में लग गये तो फिर कल्याण का यत्न कब करोगे? इन्द्रियदमन के पंथ में चलो ।

त्यागमार्ग—परवस्तुवों का राग छोड़ना इसका नाम है त्याग । राग से अनेक क्लेश मिलते हैं । ओर राग के त्याग से ये क्लेश दूर हो जाते हैं । राग के त्याग के पंथ में चलो तो इससे कोई निर्विकल्प परमपद प्राप्त होगा । समाधिभाव कहते हैं समतापरिणाम को । रागद्वेष न जगकर एक केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का प्रयत्न हो तो कोई अलौकिक आनन्द अनुभूत होगा । प्रयत्न करके और ढंग के साथ बढ़े, इन शुद्ध कामों में लगे तो संसार का परिभ्रमण मिटेगा ।

शिवपथ और भवपथ—सूत्र जी में एक सूत्र आया है—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः । और अगर ऐसा सूत्र बन जाये—मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः तो गलत है क्या? दोनों ही सूत्र ठीक है । सूत्र जी के ८वें अध्याय में मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगबन्धहेतवः कहा है, इसी का संक्षेपरूप है—''मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः ।'' हम जिस विधि से चलकर दुःखी हो रहे हैं, उससे उल्टा चलने लगें तो ये सारे क्लेश दूर हो जायेंगे । हमारा कर्तव्य है कि हम इस ज्ञान दर्शनस्वरूप निज अंतस्तत्त्व की श्रद्धा करें, उसका ही ज्ञान करें, उसका ही आचरण करें तो इस रत्नत्रय के लाभ से संसार के संकटों से हम निवृत्त हो जायेंगे । हम रात दिन के चौबीसों घंटों में किसी क्षण इस निर्विकल्प ज्ञानज्योतिमात्र आत्मतत्त्व का स्पर्श करते रहे तो इस उत्कृष्ट भव और धर्म का पाना सफल होगा ।

श्लोक (१०९)

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ।। १०९ ।।

ज्ञानपूर्वक त्याग में परमविशुद्धि का सामर्थ्य—वस्तुविज्ञान से जिसने मोह को दूर किया है, ऐसे पुरुष के जो परिग्रह का त्याग होता है वह अवश्य ही उसे अजर और अमर कर देता है । एक आयुर्वेदिक दृष्टान्त है

कि ठीक स्थान बनाकर जिसमें पवन के स्थान स्वयं बने हुए हैं, ऐसी कुटी में रहकर कोई रोगी पुरुष एक विशुद्ध काय को प्राप्त कर लेता है । इस ही प्रकार यह परिग्रहत्याग अजर और अमर पद को प्राप्त करा देता है । सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है । जिस पुरुष को अपने आप में विराजमान इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व का भली प्रकार दर्शन हो जाता है, उस पुरुष का नियम से निर्वाण निश्चित हो गया । सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए प्रथम भेदविज्ञान चाहिए । किसी भी वस्तु का हम समुचित दर्शन तब कर पायेंगे जब हम अन्य परवस्तुवों से उसकी भिन्नता नजर में लें । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपरूप में है । वे भी अपने ही स्वरूपरूप हूँ, समस्त परपदार्थों से न्यारा हूँ, ऐसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का उपयोग द्वारा दर्शन कर लेना सो सम्यग्दर्शन है । इस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मोह दूर हो जाता है । मोह दूर करके फिर राग-द्वेष के विजय के लिए जो परिग्रह का त्याग किया जाता है वह सम्यक्चारित्र है इस जीव को सम्यग्दर्शन भी हो, सम्यग्ज्ञान भी हो और सम्यक्चारित्र भी हो तो अब इन तीनों के प्रसाद से उसे निर्वाण अवश्य मिलेगा । यदि कारण सब ठीक मिल जायें, उपादान ठीक हो तो कार्यसिद्धि कैसे न होगी? जैसे ये संसार के कार्य हमारे मिथ्यात्व मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण के बल से चल रहे हैं, ऐसे ही समझिये इससे विपरीत अर्थात् अपने स्वभाव के अनुरूप हम रत्नत्रयमार्ग पर चलें, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र की आराधना सहित चलें तो नियम से निर्वाण होगा, संसार के संकट छूटेंगे ।

बैरी में राजी रहने का व्यामोह व उस संकट से छुटकारे का उपाय—यह जीव राजी रहता है मोह में, किन्तु इस जीव का वास्तविक बैरी है मोह । बैरी से सताया जा रहा है व उस सताने में ही राजी है और उस बैरी में भी राजी है । यह कितना विकट भ्रम है इस जीव पर सम्यग्दर्शन होने पर इसके मोक्ष होगा, यह तो निर्णीत हो गया, पर सम्यक्चारित्र भी साथ हो तो सम्यक्चारित्र की पूर्णता होते ही नियम से मोक्ष है । हां, इन तीनों में कोई कम रह जाये, सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यक् चारित्र नहीं है तो उसे अभी मोक्ष न मिलेगा, किन्तु मोक्षमार्ग पर अंशरूप से चलता जरूर जा रहा है । प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए उस कार्य का विश्वास हो, उस कार्य का ज्ञान हो और उस कार्य के अनुरूप अपना आचरण बने, यह सर्वत्र आवश्यक है । जैसे घर का काम हो, व्यापार का काम हो, सबमें विश्वास ज्ञान और आचरण चाहिए ।

कार्यसिद्धि में विश्वास ज्ञान और आचरण की आवश्यकता—जैसे एक रसोई बनाने का ही काम है, तो उसमें भी यों विश्वास होता है कि रसोई ऐसे बनती है । क्या कभी ऐसा संदेह किया जाता है कि कल तो चूल्हे पर तवा रखकर आटे से रोटी बनाकर पकाया था, आज आटा से रोटी बनेगी या नही? ऐसा संदेह नहीं होता है । कैसा उसका पूरा विश्वास है, उसकी विधियों का भी पूरा ज्ञान है, जिस प्रकार से जो चीज बनती है वह सब भी बराबर ज्ञान में है और जैसा विश्वास है, ज्ञान है, वैसा काम भी करने लगे तो रसोई क्यों न तैयार होगी ? ज्ञान भी रहे, विश्वास भी रहे और बनाये नहीं, पड़ा रहे आलस्य किए तो रोटी कैसे बनेगी ? व्यापार के काम में भी व्यापारविषयक विश्वास चाहिए । अर्थ के अर्जन का उपाय यह ही है । यह विश्वास बना हुआ है और उसकी कुछ विधियों पर भी विश्वास बना है उसका भी ज्ञान है और फिर कार्य भी

करने लगे तो वहां भी उसे लाभ होता है । यों ही समझिये आत्मा को मुक्त करना है, मोक्ष देना है तो पहिले मोक्षसम्बन्धी विश्वास चाहिए । यह मैं आत्मा स्वभाव से ज्ञानानन्दघन हूँ, अकेला हूँ, मैं इस शरीर से मुक्त हो सकता हूँ, कर्मों से मुक्त हो सकता हूं—ऐसा विश्वास चाहिए और उन सब तत्त्वों का ज्ञान चाहिए जिसके आश्रय से हम मुक्त हो सकते हैं और फिर वैसा आचरण कर लिया जाये तो उसको मोक्ष भी अवश्य होगा ।

आकिञ्चन्यभावना व निष्परिग्रहता के हित में पूर्णयोगदान—मोक्ष के मायने हैं केवल अकेला रह जाना । आत्मा के साथ जो शरीर, कर्म, समागम, परिग्रह देह आदिक दंद फंद लगे हैं वे सब टल जायें, उनसे निवृत्ति मिले, इसका नाम है मोक्ष । पहिले तो यह विश्वास होना चाहिए कि मेरा स्वरूप निर्मल है और मैं निर्मल हो सकता हूँ । जो पुरुष अपने को ही निर्मल नहीं मान पा रहे हैं, जिन्होंने इस देह को ही अपना सर्व कुछ मान लिया है उन्हें मुक्ति कहा से प्राप्त होगी पहिले तो अपने मैं निर्मलपने का विश्वास होना चाहिए और फिर इस तरह का अपना उपयोग बनायें, ऐसा ही अपने में अनुभवन करें तो उन्हें निर्वाण अवश्य होगा ।

निष्परिग्रहता और अकिञ्चन्यभावना—ये दोनों शान्ति की ओर ले जाते हैं । निष्परिग्रहता आचरण में चाहिए और आकिञ्चन्य श्रद्धान् में चाहिए । मैं आकिञ्चन्य हूँ, मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है, जो मेरा स्वरूप है वही मैं हूँ, वही मेरा है, इसके आगे एक अणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह विश्वास चाहिए । चाहे रागवश, परिस्थितिवश न रह सके अकेले और परिजन का, इष्टजन का पालन पोषण आदिक भी करें, धनार्जन भी करें तो भो ज्ञानी पुरुष को अन्तरङ्ग में यह श्रद्धा है कि मैं तो अकेला ही हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा अन्य कुछ नहीं हैं—ऐसा ज्ञानी गृहस्थ का निरन्तर विश्वास रहा करता है । फिर उसका यह विश्वास जब भलेरूप में होने को होता है तो इसकी अणुव्रत और महाव्रत में प्रगति होती है । जो श्रावक का व्रत अथवा साधु का व्रत ग्रहण करता है उसके सम्यक्चारित्र बनता है । यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रसाद से यह जीव कर्मों का क्षय करता है ।

ज्ञान का गाम्भीर्य—ज्ञान तो जीव का एक स्वरूप है । ज्ञान के किसी प्रकार का परिणमन होने के कारण कर्मबंध अथवा कर्ममोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती है, किन्तु मिथ्यात्व हो और मिथ्या आचरण हो तो यह जीव संसार में रुलता है, कर्मों से बंध होता है । यदि यह जीव अपने उपयोग को संभालता हैं, अपने रूप रहता है तो इसे कर्मबन्ध नहीं होता है । हर एक परिस्थिति में अपना सम्यक्त्व बराबर जागृत रखना चाहिए । सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र निर्जरा के कारण है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र ये संसार के कारण है । ज्ञान एक मध्यस्थ है, तटस्थ है । ज्ञान के कारण न बंध हो, न मोक्ष हो । जो यह बताया जाता है कि कोई उल्टा ज्ञान करे तो कर्मों से बँधता है, सो उसके मिथ्यात्व के कारण बंध है, ऐसा समझना । मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र से बंध है पर ज्ञान से बंध नहीं, और न ज्ञान से मोक्ष है । ज्ञान जब अनुपम तटस्थ है तभी तो हमारे लिए वह आलम्बन है । हमारा कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूप को जानें, विश्वास करें और निष्पक्ष होकर, समता में रहकर, ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने आपकी सम्पदा की वृद्धि करें, यही निर्वाण पाने का उपाय है । अब यह बतला रहे हैं कि निर्वाण के मार्ग में लगने वाले अनेक पुरुष होते हैं, उनमें सर्वोत्तम त्यागी पुरुष

कौन हैं ?

श्लोक (११०)

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ।। ११० ।।

कौमारब्रह्मचारियों को प्रणाम—जो जीव इन भोगों को न भोगकर पहिले से ही उनका त्याग करते हैं, मानों यह दृष्टि रखकर कि इन सब भोगों को अनन्त बार भोगा, ये सब भोग तो भोगे हुए होने के कारण जूठे हैं । इन जूठे भोगों में क्या प्रीति करना? यों जानकर जो पुरुष भोगे बिना ही परिग्रह का, भोग विषयों का परित्याग करते हैं वे कुमार ब्रह्मचारी हैं । ऐसे ब्रह्मचारी जनों को, आत्मरमण करने वाले साधुसंतों को, व्यवहार चारित्र पालने वाले संतों को हमारा नमस्कार हो ।

त्रिविध त्यागी—दुनिया में त्यागी तीन प्रकार के होते हैं । जैसा कि इस पन्थ में पहिले वर्णन किया है । उनमें कुछ तो ऐसे है कि जो पहिले भोगसामग्री को संकलित करते हैं और उस भोगसामग्री का उपभोग करते हैं, पर किसी कारण से उससे विरक्ति आ जाये तो उन पदार्थों को छोड़ देते हैं और कुछ पुरुष महाभाग ऐसे होते हैं कि इन भोगों को असार अहित जान कर भोगे बिना ही भोगों का परित्याग कर देते हैं । ये हैं कौमार ब्रह्मचारी । इन्होंने कुमार अवस्था में ही दीक्षा धारण की है । आज भी ऐसे बालक बालिकाएं पाये जाते हैं जिनको अपने सम्पूर्ण शील से ही रुचि है । वे किसी दूसरे पुरुष अथवा स्त्री से एक वैवाहिक बन्धन बांधकर भी अपने को परतंत्र नहीं रखना चाहते हैं । पुरुष हो वह भी विवाह करने पर परतंत्र हो जाता है, स्त्री हो वह भी विवाह करने पर परतंत्र हो जाती है । यह परतंत्रता भावों की है । प्रीतिभाव के कारण यह परस्पर में पराधीनता बनी रहा करती है । जो पुरुष सर्वपराधीनतावों से मुक्त हो जाये, उसे साधु पुरुष कहते हैं । लक्ष्मण के ८ कुमार पुत्रों ने कुमार-अवस्था में दीक्षा धारण की थी । यों अनेक पुरुष हुए हैं, ये कौमार ब्रह्मचारी सर्वोत्कृष्ट त्यागी पुरुष है । कुछ पुरुष ऐसे होते हैं, जो मरकर ही छोड़ पाते हैं ।

उच्छिष्टता के सूक्ष्म प्रकार—जैसे किसी पुरुष के आगे भोजन रखा जाये और वह उसे बिना खाये छोड़ दे तो उसे बड़े पुरुष नहीं खाते हैं । यह सब भावों की बात है । किसी के सामने पातल परोस दी गयी हो और वह उसे बिना खाये ही उठ जाये तो बडे पुरुष भी उसे जूठा समझ लेते हैं और उसे नहीं खाते हैं । वह तो अब जूठ के समान हो गया । यह एक दृष्टि की बात है । जैसे किसी पुरुष के गले में फूलों की माला डाल दी जाये, तो एक बार गले में वह माला डाल देने के कारण उसे कोई दूसरा पुरुष अपने गले में डालना पसंद नहीं करता है । वह तो अब अयोग्य हो गयी, ऐसा समझ कर उसे कोई भी अपने गले में डालना पसंद नहीं करता है । यह सब भावों की बात है । जिसे भोजन में आसक्ति होती है वह तो कुछ भी विचार नहीं करता है, उसे ग्रहण कर लेता है और जिसे उस भोजन में आसक्ति नहीं है वह उसे जूठा समझकर त्याग देता है ।

वज्रदंत के पुत्रों का वैराग्य—पूर्वकाल में वज्रदन्त चक्रवर्ती हुए है । वे एक बार सभा में विराजे हुए थे । माली ने आकर राजा के आगे एक फूल भेंट किया । वह कमल का पुष्प था । उसे जब पंखुड़ियों को इधर-उधर करके फैलाकर देखा तो उसके अन्दर एक मरा हुआ भंवरा पड़ा था । उस चक्रवर्ती को तत्काल ही वैराग्य उपजा । अहो ! देखो जैसे यह भंवरा गंध के लोभ में आकर अपने प्राण गंवा बैठा है, ऐसे ही हम सब संसारी जीव विषयों के लोभ में आकर अपने प्राण गंवा देते हैं । हम आप खुद अपने आपका ही घात करते रहते हैं । उसे विरक्ति हुई तो वह अपने बड़े लड़के से कहता है ऐ राजपुत्र ! तुम राज्य ग्रहण करो, तुम्हारा राज्याभिषेक करेंगे । वह बड़ा राजपुत्र बोला वज्रदन्त चक्रवर्ती का पुत्र कि पिताजी ! आप क्यों छोड़कर जा रहे हैं? वज्रदन्त ने बताया कि मुझे अब इस वैभव की, राजपाट की इच्छा नहीं रही । इसमें ही बने रहे तो आत्मकल्याण से विमुख होकर संसार में जन्म-मरण ही बढ़ाते रहेंगे । अब मुझे विरक्ति हो गई, हम इसे छोड़कर जा रहे हैं, इसे तुम ग्रहण करो तो वह पुत्र बोलता है कि जिसे तुम असार जानकर, अहितकारी जानकर छोड़कर जा रहे हो, उसे हमारे सिर क्यों पटकते हो ? यदि हमारे सिर पटक रहे हो तो यह कोई न्याय नहीं है । जिस चीज को तुम विपदा समझकर छोड़े जाते हो, उस चीज को हम न ग्रहण करेंगे । हम भी तुम्हारे साथ जाकर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करेंगे । चक्रवर्ती ने बहुत समझाया—देखो तुम अभी कुमार अवस्था के हो, जंगल के घोर दु:खों को तुम न सह सकोगे । तो चक्रवर्ती का पुत्र बोला-—पिता जी ! तुम तो एक मामूली राजा के लड़के हो, हम चक्रवर्ती के लड़के हैं । हम विचलित नहीं हो सकते । दूसरे लड़के से कहा—तो उसने भी ऐसा ही उत्तर दिया । उनके जो कुछ हजार लड़के थे, सबका वही उत्तर हो गया । अन्त में वज्रदन्त चक्रवर्ती ने एक छोटे पोते को जो अभी बच्चा ही था, बोलना भी न जान सकता था, उसके सिर पर राज्यपट्ट बांधकर लोगों को यह कह कर कि अब तुम लोगों का यह राजा हुआ है, सब छोड़कर चल दिये ।

वैराग्य की कुछ घटनायें—वैराग्य के कारण में अन्य भी ऐसी घटनाएं होती हैं । एक कमल के फूल में मरे हुए भंवरे को देख लिया, वैराग्य हो गया, सिर का केश सफेद, देख लिया वैराग्य हो गया । अब तो किसी के वैराग्य की बात चित्त में नहीं समाती । लोग पशुवों की जान से खेल खेलते हैं । किसी कुत्ता बिल्ली को कडी धूप में बांध दिया, वह तो चिल्ला रहा है, भूख, प्यास के मारे तड़फ रहा हैं, फिर भी उसे देख देखकर लोग मौज मानते हैं । अनेक घटनाएँ दु:खद देखते सुनते हैं फिर भी कभी चित्त में वैराग्य की बात नहीं समा पाती । किसी को तो उड़ते हुए बादल दिख जानें से ही वैराग्य हुआ है । अभी तो महल की छत पर खड़ा हुआ था, बादलों से बने हुए मंदिर का फोटो लेने के लिए । छत से नीचे कैमरा या पेन्सिल लेने आया, इतने में ही वहाँ पर आकर देखता है कि सारे बादल विघट गये हैं, इधर उधर उड़ गये हैं । बस उसके वैराग्य आ गया । सोचा कि जैसे ये बादल शीघ्र ही विघट गए, ऐसे ही ये धन वैभव सारे समागम शीघ्र ही विघट जाते हैं । ऐसे-ऐसे अनेक कारण होते हैं ।

भोगपरित्याग के बिना शान्ति की असंभवता—जो पुरुष भोगों को भोगे बिना, स्वीकार किए बिना त्याग

देते हैं वे पुरुष कुमार ब्रह्मचारी हैं, जो भोगकर छोड़े तो भी भला है । इसमें कुछ विशेष आश्चर्य की बात नहीं है । यह गृहस्थी में सादा खाना, सादा पहिनना, सादे रहन सहन से रहना यह भी एक त्याग का रूप है । वे तो सर्वोत्कृष्ट त्यागी है जो भोगों को भोगे बिना ही उनका परित्याग कर देते हैं और आत्मध्यान में ही अपनी बुद्धि लगाते हैं । ऐसा स्मरण कर करके हमें यह भाव भरना चाहिए कि भोगों का परित्याग करें, तब ही हमें शान्ति का मार्ग मिलेगा ।

श्लोक (१११)

अकिंचनोऽमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ।। १११ ।।

परमात्मतत्त्व का रहस्य—हे सम्यग्दृष्टि पुरुष ! देख धीरे से सुन । तुझे आज परमात्मा का वह रहस्य बतावेंगे जो योगियों द्वारा गम्य है, जिस रहस्य को योगिराज चिरकाल तक तपश्चरण और संयम करके अनुभव से जानते हैं । वह परमात्मा का रहस्य क्या है ? परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय क्या है ? मैं अकिञ्चन हूँ अर्थात् मेरा मेरे सिवाय अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निर्णय करके तू विश्राम सहित अपने ही एकत्व में अकड़कर रह जा । जिसे देहात में बोलते हैं टन्नाकर रह जाना । जैसे कभी कोई बच्चा किसी बात पर हठ करता है तो वह उस हठ के प्रसंग में एक चुपचाप वाली अकड़ से रह जाता है । ऐसे ही तू अपने को यह जानकर कि मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है । तू अपने में विश्राम करके रह जा । यह योगिगम्य परमात्वतत्त्व की प्राप्ति का उपाय कहा गया है ।

ज्ञानानुभव का प्रसाद—ज्ञानी विरक्त संत योगी बनकर जंगल में और किया क्या करते हैं ? एक अपने आपको ज्ञानमात्र सबसे निराला केवल ज्योति प्रकाशमय निरखते हुए एक निष्पंद बन जाता है । उस समय संकल्प विकल्प हट जानें के कारण अपने आप में एक उत्तम ज्योति प्रकट होती है, सहज आनन्द जागृत होता है, उस स्थिति में तू परमात्मा का रोज अनुभव कर सकता है । इस जीव पर कुछ मानने का घोर संकट है । मेरा कुछ है नहीं और मान लिया कि मेरा है, इस कारण यह संसारी प्राणी रुल रहा है । कभी ऐसी बात समझ भी आती है, फिर भी उस मार्ग पर नहीं डट पाते हैं ।

मोह का क्लेश—यह मोह करना बुरा है, दुःखदायी है, संसार में रुलाने वाला है और इस ही भव में बारम्बार रुलाने वाला है । कहीं किसी दूसरे जीव के मोह में शान्ति नहीं मिला करती है । दूसरे जीव भी तो कषायवान् हैं, उनकी भी उनमें हठ है, उनके भी दिल है, वे भी आजादी पसन्द हैं । तुम करोगे दूसरे जीवों में मोह तो भले ही तुम चाहो यह कि मैं जैसा चाहूं तैसा ही ये जीव परिणमा करें, पर यह कैसे होगा तब पराधीनता का क्लेश स्पष्ट ही है । कहीं भी तो सुख नहीं है संसार में । किसी भी स्थिति में सुख नहीं है । कुछ धनिक हो गए तो क्या शान्ति मिल गयी बड़ी खुशी में इतने संगीत समारोह करके बड़े नाच गान करके खुश हुआ जा रहा है, वहाँ भी भीतर में देखो तो वही आकुलता है, खुशी नहीं है । आकुलता खुशी के रुप

में भी फूटती है और विशाद के रूप में भी फूटती है । कौन निराकुल है? जो खुश है वह भी व्याकुल है और जो शोकमग्न है वह भी व्याकुल है । किसी जीव को यहाँ वहाँ कहीं से ढूंढ़कर ऐसा तो लावो जो पूर्णरूप से निराकुल हो । निर्व्याकुल तो एक भगवान् ही है ।

आत्मविश्राम का यत्न—हें आत्मन् ! मैं अकिञ्चन हूँ, ऐसा अपने आपमें विचार करके तू परमविश्रामसहित निष्पंद होकर ठहर जा । देख यह एक ऐसा परमात्मत्व की प्राप्ति का राज है कि जिस राज में परम आनन्द बसा हुआ है, अज्ञानभाव के कारण परपदार्थों में ममत्व हुआ करता है, वह ममत्व भले ही करे कोई, किन्तु कोई पदार्थ अपना कभी होता नहीं है । स्पष्ट देख लो, हाथ में पकड़कर देख लो—अपने ही शरीर को या गृह के वैभव को देख लो, कभी अपना होता है क्या ? प्रकट न्यारा है, स्वरूप चतुष्टय भिन्न भिन्न है, न मेरा गुण अन्य में है, न मेरा परिणमन अन्य में है, न मेरा बड़प्पन अन्य में है, न मेरा किसी पर अधिकार है, न किसी पर स्वामित्व है, ऐसा प्रकट निराला यह जगत् है । इसमें आत्मत्वभाव अज्ञान से ही होता है और यह अपना होता है नहीं, तब यह जीव बड़ा व्यग्र होता है, हीन दशा को प्राप्त होता है । इस मोही जीव ने अपने हृदय में उत्सुकता तो यह भरी है कि यह वस्तु मेरी है, मेरा इस पर पूर्ण अधिकार है और वस्तुस्वरूप के कारण निकला वह अनाधीन । तब बड़ी व्यग्रता होती है, ओह मैंने इतने कष्ट सहे, विकल्प किया, प्रयत्न किया और यह जीव या यह पदार्थ मेरे अनुकूल नहीं परिणम रहा है । देख सारे संकटों से मुक्त होना हो और इस भव में भी यदि तुझे अपने को निर्व्याकुल अनुभव करना हो तो मैं अकिञ्चन् हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, ऐसा तू केवल निजज्ञानपुंज अपने को निरख । इस उपाय के बिना तुझे शान्ति का कोई ढंग न मिलेगा ।

परभाव से विविक्तता की भावना—ज्ञानी जीव के यथार्थ भावना होती है कि कुछ भी परद्रव्य मेरा नहीं है, धातुवों में सब धातु, शरीर में सब शरीर और की तो बात क्या, भावों में अपने ही विचार रागद्वेष विकल्प, ये भी अपने नहीं है, ये समस्त पर होते हैं, विघट जाते हैं, कोई परद्रव्य मेरा नहीं हैं—ऐसा जब परिणाम हो तो परम उदासीनता प्रकट होती है । इस ही उदासीनता का नाम है चारित्र । इस चारित्र के फल से देख तू तीनों लोक का अधिपति हो जायेगा । अपने को अकिञ्चन मानेगा तो तीनों लोक का मालिक बन जायेगा और अपने को यहाँ किसी का कुछ मालिक मानेगा तो हीन दशा में रहकर संसार में जन्म मरण पायेगा । देखो कितना पुष्ट, किन्तु सुन्दर निर्णय है ।

मान की चाह में सम्मान का अलाभ—कोई पुरुष मान का अर्थी हो, मुझे सन्मान मिले, यों वह सन्मान का अर्थी आगे-आगे तुरैयासी छौंकता हुआ, अपने ही मुख से अपनी बड़ाई करता हुआ, बिना हीं बुलाये, बिना ही लोगों के आदर किए, सबसे आगे उठता बैठता हुआ जो पुरुष चेष्टा करता है उसे कभी सन्मान मिला है क्या ? ज अपने मुँह अपनी बड़ाई करता है । उसे लोगों के द्वारा बड़ाई मिलती है क्या बड़ाई तो मिलेगी उसको जो अच्छा काम करेगा । अच्छा काम करके जो अपने मुख से बड़ाई कर ले, उसको कभी बड़ाई नहीं मिलती है । सन्मान का अर्थी अपनी बड़ाई के लिए बड़ी चेष्टाएँ करता है, पर अन्त में उसे सन्मान की जगह पर अपमान ही प्राप्त होता है ।

योगिगम्य परमात्मत्वविधि—जो पुरुष परोपकार के कार्य करके भी अपने को न कुछ, नम्र, विनयशील, गर्वरहित, सबका अनुयायी, पीछे ही पीछे उठने बैठने चलने वाला पुरुष है, वह पुरुष दूसरों के द्वारा सन्मान को प्राप्त होता है । ऐसे ही जानों कि जो पुरुष अपने आपको अकिञ्चन मान कर नम्र, विनयशील, न कुछ अपने आपके स्वरूप में रमकर संतोष करने वाला होता है, वह तीनों लोकों का अधिपति अर्थात् जिनेन्द्रदेव होता है । और जो अपनी ही कल्पना में जगत् में अपने को कुछ मानता है, उसको हीन दशा में रहकर संसार में रुलना पड़ता है । यह सारा रहस्य योगीश्वर ही जानते हैं भली प्रकार से ।

आत्मप्रयोक्तृत्व में ज्ञातृत्व—जिनको तात्त्विक ढंग से यह मर्म न उतरा हो वे पुरुष बातें भले ही कर लें, किन्तु वे ज्ञाता नहीं कहलाते हैं । जैसे तैरने की कला जानने वाला, जो तैरकर अनुभव कर चुका है, उसे ही तैराक कहेंगे । किताबी ढंग में जो लिखा है, विधि है उस तरह का अभ्यास कर लेने वाला उसका ज्ञाता न कहलायेगा । भला देखो कोई पुरुष रोटी बनाना रोज देखता है, ताजी-ताजी रोटी रोज बनती हैं । वह पुरुष खाता जाता है सारी बातें देखता जाता है, इस तरह आटा गूना, इस तरह लोई बनायी, इस तरह बेला इस तरह तवे पर रक्खा, इस तरह उलटा, अग्नि पर सेका, खूब देख रहा है रोज-रोज वह पुरुष, मानों २५ वर्ष हो गये देखते-देखते । एक दिन ऐसा आ जाये कि खुद ही रोटी बनाना पड़े तो वह रोटी न बना सकेगा, यद्यपि २५ साल हो गये रोज देखते हुए और वह दूसरों से रसोई बनाने की बात बड़े अच्छे ढंग से पूरी पद्धति से कह डालेगा । यों आटा गूनो, यों रोटी पकावों, सब कुछ बता डालेगा, पर खुद को बनाना पड़े तो न बना पायेगा । तो क्या उसे रोटी बनाने की विधि का ज्ञाता कहा जायेगा? ढंग से अनुभव से तो ज्ञाता न कहलायेगा । ऐसे ही मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा जगत् में परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, इतनी ही बातें करने वाले इस मर्म के ज्ञाता नहीं कहला सकते, किन्तु जो अपने उपयोग को ऐसा बना कर इस तत्त्वज्ञान के अमृत का पान करके संतुष्ट हुए हैं, उन्हें ही इस कला के ज्ञाता कहेंगे ।

अकिञ्चन और सकिञ्चन की मान्यता का प्रभाव—हे आत्मन् ! मैं वैभववान् हूँ, मेरी इतनी इज्जत है, इस ही बात को दिल में धारे हुए क्या तू शान्ति पा रहा है? अरे क्षणिक इन विकल्पों के भार को तू अपने उपयोग से हटा तो दे, कुछ क्षण एक बार भी तो अपने को अकिञ्चन अनुभव कर । देख फिर तुझे कितना आनन्द जगता है एक बात और भी है, जो अपने को अकिञ्चन मानेगा, बाह्यपदार्थों में तृष्णा लोभ लालच न करेगा उसके पुण्यरस स्वयमेव अधिक बढ़ता है, पापों का क्षय होता है और कुछ ही समय बाद वह समता से भी भरपूर हो जाता है । अपने को अकिंचन मानने में सभी गुण है और सकिञ्चन मानने में विडम्बनाएं ही बनती हैं । मैं हूँ कुछ, ऐसा मानने में विडम्बनाएं ही बनती है ।

मैं मैं तू तू का फल—एक कोई नटखटी लड़का था । कई जगह नटखट करता गया । एक बार पावभर गुलाबजामुन लेकर गांव के किनारे गया । जहाँ तालाब में एक धोबी कपड़े धो रहा था । उसका लड़का भी था । उस नटखटी लड़के ने उसे दो चार गुलाबजामुन खिला दिये । अब तो वह रोने लगा कि मुझे ओर चाहिए । धोबी ने पूछा कि तुमने इसे क्या खिला दिया? तो उसने कहा—गुलाबजामुन । ये कहां मिलेंगे? इन

पास के ही बागों में चले जावो, जितने चाहे तोड़ लावो । धोबी ने कहा—अच्छा भाई, तुम मेरा सामान देखे रहना, मैं इसे गुलाबजामुन तोड़कर खिला लाऊँ । अच्छा तुम्हारा नाम क्या है वह नटखटी लड़का बोला—मेरा नाम है कल परसों । वह तो पास के बागों में अपने सारे बर्तन कपड़े वगैरह उसको जताकर चला गया । उस नटखटी लड़के ने क्या किया कि वह उसका सारा सामान लेकर चम्पत हो गया । जब वह धोबी लौटकर आया तो चिल्लाने लगा, अरे कल परसों मेरा सामान ले गया । लोग कहते हैं, अरे बेवकूफ कल परसों सामान ले गया, तो आज क्यों रोता है? वह नटखटी लड़का आगे बढ़ गया । रास्ते में एक घुड़सवार मिला । घुड़सवार बोला, भाई हमें प्यास लगी है, अपना डोर लोटा दे दो और मेरा घोड़ा पकड़ लो, हम पानी कुवें से भरकर पी लें । अच्छा भाई तुम्हारा नाम क्या है? मेरा नाम है, कर्ज लेने में । वह तो पानी पीने चला गया और वह लड़का उस घोड़े को लेकर चम्पत हो गया । घुड़सवार रोने लगा, चिल्लाने लगा, हाय मेरा घोड़ा कर्ज लेने में ले गया । लोग सुनने वाले कहते हैं, अरे बेवकूफ ! कर्ज लेने में घोड़ा ले गया तो क्या बुरा किया? तू ने कर्ज क्यों न चुकाया? वह नटखटी लड़का आगे किसी नगर में पहुंच गया । वहाँ एक धुनिया के घर पहुंचा । धुनिया तो घर पर था नहीं, उसकी औरत थी । वह लड़का धुनिया की औरत से कहता है कि आज रात को अपने घर मुझे ठहर जाने दीजिए, सुबह चले जायेंगे । अच्छा ठहर जावो बाबू जी । अच्छा तुम्हारा नाम क्या है ? मेरा नाम है तू ही तो था ठहर गया वह । पास में एक बनिया घर से घी आटा दाल वगैरह सारा सामान लिया और कहा कि सुबह पैसे चुका देंगे । अच्छा तुम्हारा नाम क्या है बाबू जी? हमारा नाम है 'मैं था ।' उसने धुनिया के घर भोजन बनाया खाया और जो कुछ धोवन था, वह धुनिया की रुई में डालकर सबेरा होते ही चला गया । जब धुनिया आता है तो देखता है कि सारी रुई खराब हो गयी है । औरत से पूछता है कि किसने इसे खराब किया? कौन यहाँ रात को ठहरा था? धुनिया की औरत ने कहा कि जो ठहरा था वह, तू ही तो था । उसने उसे पीटना शुरू किया । सच बता कौन था? तू ही तो था । खूब पीटी । बनिया ने उसे पिटते देखा तो उसके दया आने लगी । बनिया आकर बोला, अरे जो ठहरा था वह मैं था, लो बनिया भी पिट गया ।

जो बाहरी बातों में, मैं मेरा करता है उसको विडम्बना ही नसीब हैं । हे जिनेन्द्रदेव के भक्त ! जिनेन्द्र की भक्ति के प्रसाद से तू अनन्त सुख पायेगा । तू अपने आपको इस देह से न्यारा केवल ज्ञानपुंज अपने आपको निरख । प्रभुभक्ति वास्तव में इसी में है । अपने आपको सबसे न्यारा केवल ज्ञानपुंज मान ले । क्या है? यह वैभव तो मिटने को ही है । चाहे जब मिटे, वियोग तो होगा ही । इसे में आसक्ति न करके एक अपने आपमें अपना शुद्ध प्रकाश पायें । मैं अकिञ्चन हूँ ऐसा मानकर तू ठहर तो जा । विश्राम तो कर अपने में देख तू तीन लोक का अधिपति हो जायेगा । यह परमात्मप्राप्ति का राजरहस्य जिससे बड़े बडे योगिराज परमार्थ तपश्चरण को प्राप्त करते हैं, यह रहस्य तुझे कहा गया है ।

त्रिलोकाधिपतित्व का यत्न—परमात्मतत्त्व का यह रहस्य कैसे मिलेगा वस्तुस्वरूप का ज्ञानाभ्यास करें, जिसको भी देखो उसे पूर्ण स्वतंत्र देखो । कोई भी जीव यदि किसी के आधीन बन रहा है तो वह स्वतंत्र

होकर पर के आधीन बन रहा है । पर के आधीन बनने की बात तो त्रिकाल हो ही नहीं सकती । कोई जीव किसी दूसरे जीव के आधीन कभी बन ही नहीं सकता । वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है यह बात । जो जीव दूसरे के आधीन बन रहा है वह अपनी कल्पना में, अपनी कल्पनावों द्वारा, अपनी कल्पनावों के आधीन बन रहा है । कोई जीव किसी दूसरे के आधीन बन ही नहीं सकता है । देख यह स्वाधीनता का मार्ग परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का राज तुझे कहा है ।

त्रिलोकाधिपतित्व का यत्न—हे आत्महितार्थी पुरुष ! तू अपनी ऐसी ही भावना कर—मैं अकिञ्चन हूँ, मैं अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है । देख यह एक तेरा घर का मंत्र है । अपने आत्मा भगवान् से मिलने का उपाय है । तू बारबार ऐसी सत्य भावना तो कर कि मैं अकिञ्चन हूँ, अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं सबसे निराला हूं—इसकी बड़े योग उपयोग से अपने आप में खोज तो कर, स्वत: ही एक ऐसा अपूर्व आनन्द उत्पन्न होगा, आजाद होगा, जिसके प्रताप से तू सहज आनन्द में तृप्त हो जायेगा । तू धीरे से सुन, गम्भीरता से सुन, तुझे तेरे खास कान में बात कही जा रही है । तू अपने आपको अकिञ्चन मानकर सबसे निराले रूप से ठहर तो जा, तू तीन लोक का अधिपति हो जायेगा । इस प्रकार ज्ञानभावना के लिए आचार्यदेव ने हम लोगों को उपदेश दिया है । चाहे परिस्थिति कुछ हो, कर्तव्य कुछ हो, पर सच्ची श्रद्धा से दूर न भागो । मैं निर्मल ही हूँ, अकिञ्चन ही हूँ, ज्ञानमात्र ही हूं—ऐसी अपनी श्रद्धा बना तो तू संकटों से यथाशीघ्र पार हो जायेगा ।

श्लोक (११२)

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः ।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ।। ११२ ।।

तप के लिये मरणभव की विशेषता—यह मनुष्यजन्म दुर्लभ जन्म है, किन्तु अपवित्र है, सुखरहित है, जिसमें मरण का समय नहीं जाना जा सकता है ऐसा अविदित मरण समय है । यहाँ उत्कृष्ट भी आयु हो तो भी अल्प है, ऐसी तो इस मनुष्यभव की स्थिति है और यहाँ बात यह है कि तप मनुष्यपर्याय में ही होता है, मुक्ति तप से ही मिलती है, तब मनुष्यपर्याय प्राप्त करके हे कल्याणार्थी पुरुष ! तुझको तप ही करना युक्त है । इसमें जो विशेषण दिया गया है यह बहुत मर्म बताने वाला है । देख यह मनुष्यजन्म का मिलना अति दुर्लभ है और ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म में बहुत उत्कृष्ट कार्य हो सकता है ता उसे कर लेना चाहिए । धर्म का उत्कृष्ट पालन इस मनुष्यभव में ही हो सकता है ।

तप की मनुष्यभव में ही संभवता—मनुष्य के सिवाय तीन गतियां और है नारक, तिर्यञ्च और देव । इन तीनों की हालत सुनिये । देव तो विषयों में आसक्त है, उनको धर्मपालन की चित्त में बात नहीं आती है और फिर उनके शरीर की बनावट, शरीर का ढंग और कर्मों का उदय इस प्रकार का है कि उस देवशरीर में रहकर धर्म की बात मनमें, संयम की बात मन में नहीं आती है और न उसे कर सकते हैं । वे संयम की

बात करने में असमर्थ हैं । देवगति तो यों निपटी । नारकी जीव तीव्र दुःख से व्याकुल रहा करते हैं । वे स्वयं संताप से तपे रहते हैं । धर्म का पालन वे क्या करेंगे ? तिर्यञ्च जीव विवेकरहित है, सो प्रत्यक्ष दिखता भी है । एक मनुष्यभव ही ऐसा है जिसमें धर्म की प्राप्ति हो सकती है । ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर तपस्या के लिए अपनी उत्सुकता रहनी चाहिए और शक्तिमाफिक तप करना चाहिए ।

देह की अपवित्रता का वैराग्य में सहयोग—यह मनुष्यदेह अपवित्र है । यह देह नीचे से ऊपर तक अपवित्र है । मल, मूत्र मांस, मज्जा, हड्डी, पीप, नाक, खून, खकार से रचा हुआ है । ऊपर पतला चाम की चादर मढ़ी है । अरे शरीर जब अपवित्र ही अपवित्र है तो इससे क्या प्रीति करना ? देवगति के जीवों में जो रूप होता है उसके समक्ष यहाँ के रूप में सुन्दरता नहीं है । सुन्दर हो शरीर, पवित्र हो शरीर तो थोड़ी तृष्णा भी कर लो कि तपस्या करके इस शरीर को क्यों सुखाये क्यों बिगाड़े, पर न तो यह शरीर पवित्र है और न यह सुन्दर है । तब ऐसे अपवित्र शरीर को पाकर तप में लगाने का भय क्यों करते हो? आराम से रहेगा तो भी यह शरीर अवस्था पाकर बूढ़ा बनकर नष्ट होगा । इस अपवित्र शरीर को तप की साधना में लगाया जाये तो उससे लाभ ही मिलेगा ।

मनुष्यभव की अपसुखता का वैराग्य में सहयोग—यह मनुष्य शरीरसुख से रहित है । यह देह यदि सुख से भरपूर होता तो भी थोड़ी यह कहने की गुंजाइश रखते कि ऐसे सुख वाले शरीर को तप करके क्यों बिगाड़े, क्यों इसको हैरानी में डालें किन्तु सुख है कहा ? बच्चों से लेकर बूढ़ों तक में तो कल्पनावों के अनुसार इन सब जीवों को दुःख लगा हुआ है । देवों की तरह यहाँ सुख होता तो यह कहना ठीक था कि ऐसे सुख को छोड़कर क्यों कठिन तप करना, क्यों कष्ट सहना? तन का भी दुःख है, वचन का भी दुःख है, मन का भी दुःख है । इस मनुष्य शरीर में कितने ही रोग होते हैं? लाखों किस्म के रोग होते हैं । उन रोगों से भरा यह शरीर है । 'शरीरं व्याधिमंदिरम् ।' शरीर रोगों का घर है । शरीर की तो यह हालत है । मन की हालत भी बड़ी कठिन है इस मनुष्यभव में । कुछ सुविधा भी होती, कुछ रोगरहित शरीर भी होता तो भी मानसिक सुखों से वह छूट न पाता । दुःख में पड़ा हो तो मानसिक दुःख भोगता है, सुख में पड़ा हो तो मानसिक दुःख भोगता है ।

मनुष्यभव की अपसुखता—एक छोटा भी बच्चा हो दो तीन साल का, मां के पास बैठा हो, उसके मन में यह आ जाये कि हमें सड़क पर जाना है, तो मां उसे बहुत सुख से रखे, गोंद में रक्खे, कुछ खिलाए और आराम से थपथपाये तो भी उसे मानसिक दुःख लगेगा, न कुछ इतनीसी बात कि मुझे तो सड़क पर जाना है और यह जाने नहीं देती । वह बच्चा भी दुःख में आकर तड़फना है, रोता है सो प्रत्यक्ष दिखता है । बूढ़ों के मानसिक दुःख देख लो । बूढ़ों को कोई खाने पीने का भी दुःख नहीं देता । समय पर खूब खिलाया, थोडी शरीर की सेवा भी कर दिया तो भी उसके मन में अनेक बातें आती है । उनकी परिणति मन के अनुकूल नहीं होती या मन के अनुकूल नहीं चलते तो वे भी मानसिक दुःख से तप्तायमान रहते हैं । जवानों की बात तो विचित्र है । उनका मन तो अति चंचल है । शरीर में बल भी है, सो वे यह चाहते हैं कि मैं जिस काम

को मन में विचारूं वह काम तुरन्त हो, ठीक हो लेकिन पर-पदार्थ का परिणमन अपने आधीन है नहीं सो पर तो पर ही है, उसके परिणमन पर हम आपका अधिकार क्या है? यों बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी मनुष्य मानसिक दु:ख से दु:खी है । इस शरीर में सुख नहीं है, सो ऐसे दु:खों वाले आत्मा को तपस्या में लगा दीजिए । दु:खी तो यह है ही । आराम से रहे तो भी दु:ख पाता है । यदि तपस्या में लगाये तो सम्भव है कि दु:ख न हो । कहो वहाँ अन्तरङ्ग में आत्मीय आनन्द जगे तो यह मनुष्यभव सुखरहित है । इसे तपस्या में लगाना योग्य है ।

अविदितमृत्युसमयता का वैराग्य में सहयोग—तीसरा विशेषण दिया है, इसके मरण का समय नहीं जाना जाता है । न जाने कब मृत्यु हो जाये ? जैसे देवतावों का मरण का समय निश्चित है । उन्हें भी विदित है कि हम अमुक दिन मरेंगे, क्योंकि देवतावों की आयु बीच में कटती नहीं है । जैसे यहाँ शस्त्र से, रोग से या किसी कारण से अकाल मृत्यु हो जाती है, ऐसी बात देवतावों में नहीं है । वे अवधिज्ञानी होते हैं वे जान जायेंगे कि अमुक दिन, अमुक मिनट पर हमें मरना है । तो जहाँ मरहम का समय विदित हो वहाँ यह भावना बन सकती है कि अभी तो इस दिन तक जीना है । पीछे कर लिया जायेगा धर्म अभी तो इतने वर्ष पड़े हैं, लेकिन इस मनुष्य का तो कल का भी पता नहीं है कि क्या होगा ? ऐसे ही अंदाज से अपनी वासना के अनुसार अपने चित्त में यह बसाये हुए है कि हमें बहुत जीना है । लेकिन जब भी कोई मरता है उसके दो चार दस दिन पहिले भी क्या कोई सोच पाता है कि अब हम निकट समय में ही मरने वाले हैं । तो हमें धर्मसाधना के लिए तपस्या आदिक का शीघ्र काम कर लेना चाहिए ।

नरभव की अल्पायुष्कता—यह मनुष्यभव अत्यन्त अल्प आयु वाला भव है । देवतावों की आयु सागरों पर्यन्त की होती है । जैसे मान लो किसी की २५ सागरों की आयु है तो उसका अर्थ यह है कि वह असंख्याते वर्ष जीवित रहेगा । करोड़ नहीं, शंख महाशंख नहीं, किन्तु असंख्यात वर्ष तक इस शरीर में रहेगा । कल्पना करो कि कोई दो हजार कोश का लम्बा चौड़ा गड्ढा है । उसमें उत्तम भोगभूमि में पैदा हुए ७ दिन के मेढ़े के बच्चे के रोम के अत्यन्त छोटे टुकड़े जिनका कि कतरनी के काटने से दूसरा हिस्सा न हो सके, ऐसे रोम उस गडढे में भर दीजिए और उसके ऊपर हाथी फिरा दीजिए, तो उसमें कितने रोम भरे हैं, कल्पना लावो, और उनको एक-एक करके सौ-सौ वर्ष बाद निकालते जावो, तो जिनने वर्षों में सब रोम निकल सकें उतने वर्षों का नाम है व्यवहारपल्य । उससे असंख्यात गुणा है उद्धारपल्य । उससे असंख्यात गुणा है अद्धापल्य । एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करके जो आया उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य । ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का होता है एक सागर । ऐसे ३३ सागर तक देव जीवित रह सकते हैं । समय तो है, उसका माप कल्पना द्वारा बताया जा रहा है । कुछ करने की बात नहीं कह रहे हैं । उतना बड़ा गड्ढा खोदकर उतने रोम भरे नहीं जा सकते हैं और फिर उन पर हाथी फिराकर उन्हें एक-एक करके सौ-सौ वर्ष बाद निकाला नहीं जा सकता है, पर इतना लम्बा समय है, यह समझ में आये कैसे? इसको समझाने के लिए कल्पना करके ऋषि संतों ने बताया है कि इस ढंग से लोग समझ जावें

। ऐसी है उन देवों की आयु । ऐसी ही नारकियों की आयु होती है । उसके सामने ये मनुष्य के १०० वर्ष हो गए, लाख वर्ष हो गए, करोड़ वर्ष हो गये तो ये कौनसी गिनती में है यह तो अल्प आयु है । बहुत बड़ी लम्बी आयु हो तो यह सोचा जाये कि चलने दो अभी मनमौजी का काम । जब थोड़ा समय रह जाये तब देखा जायेगा । यह आयु बहुत थोड़े समय वाली है, ऐसी अल्प आयु में तप, व्रत, संयम, साधन करके इस दुर्लभ मनुष्यजीवन का लाभ उठा लेना चाहिए ।

परमार्थ तपश्चरण से ही मुक्ति—तपस्या के बिना मुक्ति नहीं होती । बाह्य तपश्चरणों में तीव्रता भले ही न हो । कोई साधु बाह्य तपश्चरण अधिक कर रहा हो, कोई बाह्य तपस्यायें कम कर रहा हो, पर अन्तर जो तपश्चरण है, शुद्ध निजज्ञायकस्वरूप का आश्रय लेना उसका ही अनुभव करना, वहाँ ही उपयोग रमाना, ऐसा जो पारमार्थिक अन्तरङ्ग तपश्चरण है और प्रायश्चित विनय आदिक जो अन्तरङ्ग तपश्चरण है, ये सबको करने होते हैं । भरत चक्रवती को दीक्षा लेने के बाद अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया था । बाह्य तपश्चरण करने का उन्हें अवसर ही नहीं मिल पाया था पर उनकी जिन्दगी में अन्तरङ्ग तपश्चरण वर्तता रहता था । राज्यपद संभालते हुए भी, चक्रवर्ती होकर भी धर्म का काम और अन्तरङ्ग में वैराग्य का काम बराबर चल रहा था ।

परमार्थ तपश्चरण की अनिवार्यता—बाहुबलि स्वामी एक वर्ष तक कार्योत्सर्ग आसन में खड़े रहे । वर्षाकाल में बेलें लिपट गयीं, सर्पों के घर पास में ही बन गए, अनेक सर्प आस-पास डोलने लगे, ऐसी एक वर्ष की कठिन साधना की । ऐसे दृष्टान्त कम सुनने में आते हैं । बाहुबलि के पिता ऋषभदेव ने दीक्षा लेकर उपवास की ६ माह की प्रतिज्ञा ली थी । रोज-रोज वे चर्या को निकलते रहे, पर ६ महीने तक उन्हें विधि न मिली । देखो तो कर्मों की बात । इतने बड़े भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल में चतुर्थ—काल में सर्वप्रथम रक्षक हुए हैं, जिनकी दया के कारण लोक में प्रसिद्धि हुई । कोई सृष्टि का रचने वाला है । ६ माह तक रोज चर्या को जाये, पर आहार का योग न मिले । उस समय के लोग जबकि ऋषभदेव चर्या को निकलें राजा महाराजा सभी हाथी घोड़ा लेकर भेंट करने जाते थे । कोई कहे सोना, चांदी, रत्न ले लो, कोई कहे हाथी, घोड़ा ले लो । कोई अपनी लड़की विवाह के लिए भेंट करने जाता था, जैसा कि उस समय रिवाज था । सब कुछ देने के लिए सभी लोग जाते थे, पर आहार देने की विधि न जान पाते थे । इसी से उन्हें ६ माह तक आहार की विधि न मिली । तो किसी की तपस्या का समय जाना जाता, किसी को नहीं जाना जाता, पर अन्तरङ्ग तपस्या बिना किसी को मुक्ति का लाभ नहीं होता ।

निगोद से निकलने का सुयोग—हे कल्याणार्थी पुरुष ! इस दुर्लभ नरदेह को पाकर इसे सदुपयोग में लगा । यह मानुष देहपना बड़ी दुर्लभ वस्तु है । प्रथम तो तुझे निगोद से निकलना ही बड़ा दुर्लभ था । अनन्त निगोदिया जीव अनादि काल से अब तक निगोद में पड़े हैं और अनन्तकाल तक निगोदिया रहेंगे । कुछ ऐसे भी निगोदिया जीव है जो इस निगोद पर्याय को कभी छोड़ नहीं सकते । निगोद में महा कष्ट हैं । श्वास में १८ बार जन्म और मरण होता है । केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है । शरीर भी ऐसा साधारण है कि एक जीव मरे तो अनन्त जीव संग में मरें, एक जीव जन्म ले तो अनन्त । जीव जन्म लें । ऐसे निगोद के कठिन दु:खों

से तो हम आप निकल आये हैं । अब इसी भव में अनेक चिंताएँ, अनेक शोक किया करते हैं ।

प्रत्येक स्थावरों में जन्म—निगोद से निकला तो यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में उत्पन्न हुआ । इनकी भी दशा कोई सुखमय दशा नहीं है । पृथ्वी को चाहे जो काटे भेदे, उसके पास रक्षा का क्या साधन है ऐसे ही जल को चाहे जो बिलोये, अग्नि को चाहे जो बुझाये, वायु को चाहे जो रबड़ आदि में रोक दे और वनस्पति को चाहे जो तोड़े भेदे फूल पत्तियों को तोड़कर चाहे जो अपना दिल बहलाये । कोई तो प्रभु पर फूल चढ़ाकर लोग कहते हैं कि हमने धर्म किया, पर धर्म वहाँ कहां होता है ? हालांकि गृहस्थावस्था में ये सभी कार्य किए जाते हैं, पर इनके छेदने में भेदने में जो प्राणघात है वह तो होता ही हैं ।

स्थावरों से निर्गमन—इन स्थावरों से निकलकर दो इन्द्रिय जीव हुए, लट, केचुवा, जोंक, शंख कौड़ी, सीप आदि की पर्याय में आये, उनका भी कितना घात होता है ? थोड़ा एकेन्द्रिय से इनमें अधिक विकास है । अनेक प्रकार के कष्ट इस जीव ने दो इन्द्रिय पर्याय पाकर भोगे । दो इन्द्रिय से निकल कर यह जीव तीन इन्द्रिय पर्याय में आया । कीड़ा कीड़ी बन गया, यह भी कोई खास विकास नहीं है । चार इन्द्रिय हो गया तो मक्खी मच्छर आदि की पर्याय मिली । उनकी भी स्थिति हम आप सभी देख ही रहे हैं । पंचेन्द्रिय में पशु पक्षी हो गए, उनकी भी सभी लोग हालत देख रहे हैं ।

वर्तमान उपलब्ध सुयोग के सदुपयोग का अनुरोध—इन सबसे निकलकर मनुष्यपर्याय में आना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । मनुष्य हो गये, पर उत्तमदेश का मिलना कितनी कठिन बात है? पैदा हो गये होते कहीं बर्फीले प्रदेश में जहाँ अन्न और फल नहीं पैदा होते हैं तो कितनी दयनीय स्थिति होती? उत्तम देश भी मिल गया तो उत्तम कुल का मिलना मुश्किल है । देश भी उत्तम मिल जाये और नीच कुल मिल जाये तो वहाँ भी भावों की उन्नति नहीं है । उत्तम कुल मिल जाये, फिर शरीर का निरोग मिलना, बुद्धि का विकास होना, प्रतिभासम्पन्न होना, धर्मविद्या का सुयोग मिलना, उसमें रुचि रखना, धर्म को बात सुनना, समझना, चित्त में धारण कर लेना, उनका पालन कर सकना—ये सारी बातें उत्तरोत्तर कठिन हैं । इतनी दुर्लभ चीज हम आपको आज मिली है, इसे पाकर इसे अन्य गतियों की भांति विषयकषायों में ही गंवा दिया तो सोच लीजिए ऐसा समागम मिलना आसान नहीं है । आज दुर्लभ मानुष देह मिला है तो इसे तप, व्रत, संयम में लगाये, इससे ही मोक्ष का काम सिद्ध होगा ।

श्लोक (११३)

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता ।
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं ।
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधरं किं वा समाधौ बुधाः ।। ११३ ।।

अल्पसाधना और महान् फल—तीन लोक के गुरु भगवान् तो आराधना किए जाने योग्य हैं अर्थात् जहां

त्रिलोकीनाथ भगवान की आराधना करने का काम है और सज्जन पुरुषों की जैसी प्रवृत्ति करने का काम है, वहां अब भगवान के चरणों का स्मरण करने में अंदाज कर लो, कितना क्लेश है और लाभ कितना है ? अरे ! इन सत्कार्यों से कर्मों का क्षय हो जायेगा, मुक्ति का सुख मिल जायेगा । आप सोच लो इतना काम करने के लिए हमें कितना समय मिला है इस मनुष्य भव में ओर एक मन को साधने भर का काम है । एक स्वाधीन सुगम कार्य करने में क्या कष्ट है कष्ट तो विकार भावों में है । विषयों की इच्छा हो, काम की वेदना हो, रसीले स्वादिष्ट भोजन करने की वाञ्छा हो, इत्र फुलेल सुगंधि पदार्थों का परिणाम बना हो, सुन्दर-सुन्दर रूपों के अवलोकन की उत्सुकता हो, गायन, राग सुनने का भाव हो, यश कीर्ति बढ़ाने का चित्त में चाव हो तो ये सब क्लेश है । समाधिभाव होना क्लेश नहीं है । सज्जनों जैसी वृत्ति बनाना, भगवान् प्रभु की आराधना करना वह क्लेश नहीं है । यह तो कष्ट के निवारण का उपाय है । हे भव्य पुरुषो ! अपना बोध बनावो, चित्त बनावो प्रभुभक्ति की ओर सत्संग सेवा का । इन दो बातों का बोध बनावो और अपना जीवन इन दो प्रसंगों में बीते तो क्लेश न होगा, शान्ति ही मिलेगी ।

ध्यान तप की विशेषता—कोई पुस्कर समझे कि तप में तो बड़ा कष्ट है और कष्ट सहा जाता नहीं, उसके प्रतिबोध के लिए यह छंद कहा गया है कि देखो समस्त तपों में उत्कृष्ट तप ध्यान है ।उपवास करना, कायक्लेश करना इनको तो नहीं कहा जा रहा है । सब तपों में उत्कृष्ट तप ध्यान है, मन का अच्छी जगह स्थित होना, यह सबसे ऊचा तप है । एक मन को गिराने से गिरना हो जाता है और एक मन को संभाल लेने से उठना हो जाता है । अन्तरङ्ग में देखिये कितने क्लेश हैं? कितनी सी बात है । अरे प्रभु की भक्ति करो और सत्संग में निवास करो, सज्जनों जैसी चर्या बनाओ । इसमें कष्ट तो रंच है ही नहीं । लाभ अनेक हैं, शान्ति मिलेगी, निराकुल रहेंगे, स्वतंत्र रहेंगे और भव-भव के बँधे हुए कर्मों का विनाश होगा । देखो समस्त तपों में उत्कृष्ट तप है ध्यान । इसमें क्या कष्ट है सो तो बतावो? दो ही कार्य तो बताये गए, प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति । इनके लिए काम क्या होगा? परिवार की भक्ति अर्थात् परिजनों से मोह करना और नीचे कार्यों का, नीचे पुरुषों का सेवन करना, इनमें तो खेद ही होगा । कोई अयोग्य काम कर लिया । नीच काम कर लिया तो प्रथम तो लज्जा का खेद भोगना पड़ता है और फिर इतना ही नहीं, इसके बाद अपमान और तिरस्कार भी हो जाया करता है । जिन विषयों में, विकारों में तू रम रहा है क्लेश के कारण तो ये ही है । सो नीच का सेवन करने में खेद ही खेद है और तीन लोक के नाथ अरहंत आदिक का, तीन लोक के लायक परमात्मा का आराधन करना इसमें न क्लेश है और न भविष्य का कोई संकट है । इस प्रकार सज्जनों की प्रवृत्ति बनाना, जो सज्जन लोग किया करते हैं ऐसी वृत्ति से चलना, इसमें खेद नहीं होता ।

प्रभुभक्ति और सद्वृत्ति में उत्कर्ष—आपको नीच कार्य करना पड़े तो उसमें खेद होता है । जिस वृत्ति की बड़े पुरुष भी प्रशंसा करते हैं, ऐसी प्रवृत्ति ही अंगीकार करने के योग्य है । अभी चार आदमियों में कोई बात कहेंगे तो भली-भली कहेंगे । चाहे वह स्वयं भला न हो, चाहे उसकी प्रवृत्ति भले की न हो, पर चार आदमियों में बात बोलनी होगी तो भली ही बोली जायेगी । तो जिस बात को चार आदमियों के बीच कहने में लज्जा

आती है, उस नीच कार्य का सेवन कितना अनर्थ करने वाला होगा? देख तेरे लिए दो ही काम बताये जा रहे हैं—भगवान् की आराधना करना और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति करना । इनके करने में कोई कष्ट यदि आता है तो वह तो तेरे लिए शृङ्गार है, कष्ट नहीं है । तू यदि सद्वृत्ति बनाए हुए हैं, प्रभुभक्ति बनाए हुए हैं तो ये सारे संकट जो इस बीच आते हैं वे शृङ्गार हैं, संकट नहीं है । और देख प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति को देखकर यदि नीच कार्यों में लगा तो इससे तो अनन्त क्लेश भोगने पड़ेंगे । नीच गति में जन्म लेगा, कोई पूछनहार न रहेगा । इससे उल्टा चलने पर तो अनन्त क्लेश पावोगे । यदि एक सीधे । मार्ग पर चलने में वर्तमान परिणामों के अनुसार कुछ कष्ट होता हो तो वह कुछ कष्ट नहीं है ।

प्रभुभक्ति और सद्वृत्ति का फल—भगवान् आत्मा के आराधना करने में अथवा प्रभु के शुद्ध गुणों के स्मरण करने में, अपने आपके कल्याण की साधना में तेरा कुछ जाता है क्या? तेरे स्वरूप में से कुछ घटता है क्या? अगर कुछ घटता हो, जाता हो तो उसमें दु:खी होना चाहिए । उसमें दु:खी होना ठीक ही है । सो जाता तो कुछ है नहीं बल्कि क्लेश का कारण जो कर्मसमूह है उस कर्मसमूह का ही नाश होता है । अपने निजस्वरूप में ही कुछ खर्च नहीं होता, किन्तु जो बाधा विपदा लगी हुई है, बोझ चढ़ा हुआ है वह बोझ नष्ट हो जाता है । और भी देख, भगवान् की आराधना और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति इन दोनों का फल साधारण नहीं है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट मोक्षफल है । यदि तुझे कुछ क्लेश जँचता हो, प्रथम तो क्लेश है ही नहीं । सद्विचारों में, सद्आचारों में क्लेश नहीं होता, बल्कि प्रसन्नता ही होती है, किन्तु मन चिरकाल से विषयों में लिप्त बना चला आ रहा है, इस कारण मन की वृत्ति कुछ गंदी है । इसी से इसे अनगिनते क्लेश होते हैं । खैर, सद्वृत्ति से रहे तो इसमें कोई साधारणसा क्लेश है, किन्तु फल कितना शिवमय होता है ।

असद्वृत्ति में पराधीनता—भैया ! कोई साधन पराधीन हो तो उसमें खेद होना ठीक है, पराधीन साधन में खेद होता है । लेकिन तू देख तो सही, तू पराधीन शब्दों का भी ठीक अर्थ नहीं लगा सकता । अरे ! विषय के साधनों में आधीन होने का नाम पराधीन है । लोक में उसको पराधीन कहने लगते हैं कि जो छोटा पुरुष है, किसी बड़े के अण्डर में काम करता हो तो लोग कहते हैं कि यह पराधीन है । पर यह कोई खास पराधीन नहीं है । पराधीनता तो विषय के साधनों की हुआ करती है । मोही जीव जिसको स्वाधीन समझते हैं वह तो बहुत पराधीन है । परिजन से प्रेम है, मोह है, उन परिजनों की कितनी ही बातें सहन करनी होती हैं और फिर भी विषयों के लोभ के पीछे, विषयसाधनों के कारण वहाँ पराधीनता का अनुभव नहीं करते, किन्तु जहाँ धर्म का कार्य हो, सत्संग की बात हो, प्रभुभक्ति सद्वृत्ति की बात हो वहाँ पराधीन मान लेते हैं । पराधीन तो इन्द्रिय के विषयों के साधन के आधीन बनने का नाम है । यह कार्य तो स्वाधीन है । अरे अपने मन की ही तो साधना करना है ।

प्रभुभक्ति की स्वाधीनता—देखो ! जो सज्जन पुरुष हैं वह भी वीतराग है, और जो भगवान् है वह तो उत्कृष्ट वीतराग है ही । अपने मन से इस वीतराग प्रभु और गुरुवों के प्रति अपनी भक्ति भाव रहे, उनकी सेवा उपासना बनी रहे तो देखो सेवा उपासना करने पर भी उनकी ओर से तुझे कोई बाधा नहीं आती और

तू उन वीतराग पुरुषों की, प्रभु की सेवा उपासना न करे तो भी उनकी ओर से तुझे कोई बाधा नहीं आती है । अब तो केवल तेरी ओर से ही करने का काम है । मन का साधन बना और प्रभु एवं गुरुओं, की सेवा में रत रह । कितना स्वाधीन काम है? एक अपने मन को डाटने भर की बात है । कष्ट की बात, पुरुषार्थ की बात तो इतनी मात्र है, और लाभ कितना है? निराकुलता रहे, शान्ति रहे, स्वाधीनता रहे, भव-भव के कर्मों के बन्धन भी करें, इतने लाभ है । फिर भी यह मोही जीव प्रभुभक्ति और सद्वृत्ति को नहीं करना चाहता है । हे कल्याणार्थी पुरुष ! तू विचार तो, एक प्रभु के ध्यान में कौनसा कष्ट है ? इस तप में तू अनादर मत कर ।

तपश्चरण की स्वाधीनता—शायद यहाँ कहोगे कि सज्जनों जैसी वृत्ति करने में और तप की साधना में जहाँ तक ध्यान का सम्बन्ध है, ज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो हम मान जायेंगे कि इसमें कोई कष्ट नहीं है, बल्कि प्रसन्नता ही है, क्योंकि नवीन-नवीन और सत्य बात मालूम हो जाती है । यदि अनशन करें, उपवास करें, ऊनोदर करें तो इनमें तो बड़ा कष्ट है । इन तपों से तो हमें अलग रहना चाहिए । इनमें लगने की बात तो हे आचार्य देव ! आप कहो । इसमें तो कष्ट मालूम होता है । उसका समाधान यों है कि अनशन आदिक तपों से भी तब कष्ट है जब स्वयं करना न चाहे और करना पड़े, अपनी उत्सुकता से अपनी प्रसन्नता से जो अनशन आदिक तपों को करता है उसे इस तप में भी कष्ट अनुभूत नहीं होता है । यदि कोई दुनिया को बताने के लिए या दुनिया मुझे नाम न धरे, दुनिया में भी प्रशंसा बढ़े, ऐसे कुछ भी भाव रखकर अनशन करे तो वह दिल से नहीं किया । अनशन के चाव से अनशन नहीं किया, वह तो जबरदस्ती से हुआ । जो आप न करना चाहे और किसी कारण जबरदस्ती हो जाये तो उस अनशन में कष्ट का अनुभव होता है, पर जो स्वयं अपने आपकी इच्छा से किया जाये, उसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है । जैसे अपने परिणाम प्रमादी न बन सकें और क्लेशरूप भी परिणाम न बनें, इस प्रकार ध्यान की सिद्धि के लिए अनशन आदिक भी करना चाहिए । इसमें कोई कष्ट की बात नहीं है ।

विशुद्ध उपयोग का अनुरोध—जब तक शुद्ध मार्ग का लक्ष्य नहीं होता तब तक ये धर्म के कार्य कष्टरूप मालूम होते हैं । जब एक धुनि इस अन्त: तप के लिए जग जाती है तो उसमें अनशन आदिक तप करने में कोई कष्ट नहीं होता है । हे आत्मन् ! तू इन दो बातों को मत भूल । तीन लोक के नाथ वीतराग सर्वज्ञदेव की भक्ति में बढ़ो । प्रभु की मुद्रा विचार कर, आकाश में समवशरण का दृश्य विचार कर बड़ी शोभा वाले समवशरण के बहुत बीच में गंधकुटी पर जैसे चतुर्मुख भगवान् विराजमान हैं, ऐसे उन प्रभु की शान्त मुद्रा को निरखकर अपना विशुद्ध उपयोग बना । इस उपयोग में प्रसन्नता का अनुभव होता है । जबकि पुत्रों में, स्त्री में, धन वैभव में चित्त लगाया जाये तो उसमें कायरता का अनुभव होता है । क्यों इस मोह वाले प्रसंग में रहने से दिल, दिन प्रतिदिन कमजोर होता जाता है? अपने आप तु कष्ट और उपसर्गों को चाह रहा है । इसकी चाह छोड़कर प्रभुभक्ति और सज्जनों जैसी प्रवृत्ति बना । इन सद्प्रवृत्तियों से तेरा अवश्य कल्याण होगा । अब आगे और भी प्रतिबोध करते हैं ।

श्लोक (११४)

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते ।
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः ।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवो ।
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ।। ११४ ।।

कामव्याध का वेध—धन वैभव सम्बंधी जो विचार है, ये विचार इस संतप्त जीवों को ताप बढ़ाने के लिए पवन के समान हैं । जैसे हवा चली तो अग्नि का जोर बढ़ा, दाह तपन उत्कृष्ट बनी, ऐसे ही ये वैभव जड़ पदार्थों के विचार, ये इस संसार के दु:खी संतप्त जीवों का ओर भी दुःख बढ़ाते हैं । जो इन जड़ वैभव के विचार में ही निरन्तर अपने चित्त को रमाते हैं उन्हें कहा से सुख हो सकता है? यह आत्मा तो निष्काम है, अदुष्ट है, शिष्ट है, इसे कामरूपी ये शिकारी इस अदुष्ट आत्मा को दुष्ट कर रहे हैं । ये चारित्र को ढकने में धूल का काम करते हैं । जैसे कभी तेज हवा चले, उस हवा से धूल नीचे से उड़े और उड़कर सूर्य को भी आच्छादित कर दे, ऐसे ही ये जड़ पदार्थों के विचार यह ही हुई हवा । इन हवावों से कष्टों की धूल उड़ती हैं । जड़ पदार्थों में गमन वाञ्छा रखने से कष्ट ही उत्पन्न होता है । उस कष्टरूपी धूल से हे आत्मन् ! तेरा चारित्ररूपी सूर्य ढक जाता है । तू परिग्रह की ओर का विचार मत कर । प्रभुभक्ति और आत्मरमण की ओर अपने विचार बना । अच्छा भैया ! तुम्हीं बतावो तप से जो सिद्धि होती है ऐसे मनोवाञ्छित पदार्थ की सिद्धि कराने वाला अन्य कौन है ? सभी जीव केवल एक अपने सही विचार के माफिक चलें तो सुखी हो सकते हैं । विकारयुक्त गन्दे परिणाम करने से जीव को सुख नहीं हो सकता है ।

मानवों की मानवृत्ति—जगत् में यह जीव जितने कार्य करता है, सो सब मान आदिक के अर्थ करता है । मेरा मान रह जाये । मान के लिए तो यह मनुष्य अपने प्राण भी गंवा देता है । जगत् के जीवों में मान की चाह विशेष पायी जाती है । संसार में चार गतियां है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव । कषायें भी चार हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ । नरक गति के जीवों के क्रोध की विशेषता है तिर्यञ्च गति के जीवों में माया की विशेषता है देव गति के जीवों में लोभ की विशेषता है और मनुष्य गति के जीवों में मान की विशेषता है । यह पुरुष संतान चाहता है तो क्या संतान के लिए संतान चाहता है या अपने आत्मा के लिए संतान चाहता है? लोक में अपना मान रखने के लिए संतान चाहता है । उसके मरे के बाद भी लोग यह कहें कि यह अमुक का बेटा है, इतना मात्र कहलाने का सुख लूटने के लिए संतान चाहता है, पर वह सुख तो है नहीं ।

मान का अनर्थक हठ—व्यवहार में कहते हैं ना कि इतनी बात कहलाने के लिए इतने बड़े कष्ट सहे जा रहे हैं । रात दिन परिग्रह के व्यामोह में लगे जा रहे हैं । इसका फल कितना होगा ? वास्तव में तो इससे लाभ नहीं है, बल्कि इससे हानि है । कुछ सोच लिया, कि लोग मेरा नाम कहेंगे । अरे मर गये फिर काहे का नाम? मरकर न जाने किस क्षेत्र में और किस भव में शरीर धारण किया? अब तो वहाँ की जो बात है

वही अनुभव में आयेगी । आज मनुष्य है सो आज की नाना व्यञ्जनों जैसी भोजन की प्रवृत्ति है और फिर वही जीव मरकर बन जाये केचुवा, तो उसका मिट्टी का भोजन है । काहे का मान रखते हो, काहे का बड़प्पन, काहे का सम्मान? कुछ भी इसमें सुख नहीं है । मरण के बाद क्या दशा होगी? इसका कुछ भी ख्याल नहीं रखते, लेकिन मान रखने के लिए सब कार्य करते हैं । तू अपना मान रख तो ऐसा रख, जो अनन्त काल के लिए तुझे सुख पहुंचायेगा । लोग प्राण देकर भी अपने को बड़ा मनवाना चाहते हैं । जितने भी कष्ट यह मनुष्य करता है—व्यापार करना, धन जोड़ना, और-और भी इष्ट सामग्री के साधन मिलाना, यह तो सब विपत्ति है । तू मान आदिक के निमित्त से ऐसा आर्तध्यान कर रहा, तू इससे सदा दु:खी ही रहेगा ।

तपश्चरण से सर्व अभ्युदय—देख तपस्या में समस्त लाभ है । त्याग संयम ध्यान सदाचार में बढ़, इससे ऋद्धिसिद्धि सब कुछ उत्पन्न हो जाती हैं । तपस्या से बढ़कर उत्कृष्ट और कुछ नहीं है । तू तप में प्रमादी मत बन । प्रभु का ध्यान, सज्जनों की सेवा, इन दो तत्त्वों में तो कुछ कष्ट भी नहीं है । सो थोड़ी एक मन की साधना बना ले । पापों से दूर होगा तो तेरा सर्वकल्याण होगा ।

श्लोक (११५)

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्,
गुणा: परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति ।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यापिनी ।
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ।। ११५ ।।

तपश्चरण से कषायविजय—तप के होने से यहाँ ही तत्काल क्रोधादिक बैरियों को जीत लिया जाता है । तप नाम है अपने ज्ञानस्वरूप में अपने उपयोग को तपाना अर्थात् जो उपयोग अनादि काल से बाहरी पदार्थों में स्वच्छन्दता से मौज मानता हुआ लग रहा है, उस उपयोग को बाह्यपदार्थों से हटाकर अपने आपके स्वरूप में लगाना । इसमें एक तपनसी होती है । देर तक अपने में रंग नहीं पाता, बैठ नहीं पाता, कभी किसी को घबड़ाहट भी होती है तो अपने आपके स्वरूप में अपने ज्ञान को लगाना यही वास्तविक तपश्चरण है । इस तपश्चरण में यह प्रभाव है कि इससे क्रोधादिक बैरियों को तत्काल जीत लिया जाता है ।

गुणविकास की सर्वप्रियता—जिस गुण को लोग अपने प्राण देकर भी प्रकट करना चाहते हैं उस अपने गुण के विकास में उत्सुक होओ । नाना प्रकार के गुण सीखना यह गुणों के विकास का ही तो उद्यम है । ज्ञानविकास में केवल जानकारी भर होती है, बाह्य में मिलता कुछ नहीं है, उसके लिए भी बड़ी उत्सुकता रहती है । जैसे बालकों को आर्ट में या गणित में किसी भी चीज में कोई ज्ञान मिलता है तो उन्हें उसमें बड़ी प्रसन्नता रहती है । उनको न तो मिठाई मिलना है और न उनको कोई आराम दिया जा रहा है, केवल एक उनमें जिज्ञासा उठी है कि यह क्या है? उस जिज्ञासा के हल कर लेने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है । जिस गुण विकास के लिए लोग जान जानकर उद्यम करते हैं वह गुणविकास इस परमार्थ तपश्चरण के प्रसाद से

स्वयमेव प्राप्त हो जाता है ।

जीवों में ज्ञान और आनन्द की उत्सुकता—जीव को चाहिए ज्ञान और आनन्द । मूल में केवल ये दो ही चाह हैं और जितनी भी चाह बना ली है यश की, नाम की, धन की, वैभव की ये सब आनन्द की प्राप्ति के लिए है । मूल में जीव को केवल दो ही चाह हैं । किसी को बड़ा आराम दिया जाये, आनन्द दिया जाये और जिज्ञासा हल करने का कोई साधन न मिले, ज्ञान बढ़ाने का कोई साधन न मिले तो वह पुरुष भी ऊब जाता है । उसे प्राप्त हुआ आराम भी सुहाता नहीं है । उसे चाहिए ज्ञान की खुराक और किसी को ज्ञान ही ज्ञान मिलता रहे, उसमें भीतर शान्ति न हो, आनन्द न मिले तो वह ज्ञान से भी थक जाता है । इस जीव के दोनों इच्छा हैं—मुझे ज्ञान मिले और आनन्द मिले, पर ज्ञान के लिए बड़ी-बड़ी मेहनत करे तो मेहनत करने के आधार पर कितनासा ज्ञान मिलेगा ? थोड़ासा पढ़ने सीखने, प्रेक्टिकल काम करने आदिक उपायों से हम ज्ञान का संचय कर लें तो हमें कितना ज्ञान मिल पायेगा? थोड़ासा मिल पायेगा ।

ज्ञानी की निर्विकल्पता की भावना—बाहरी बातों का विकल्प तोड़ने के अतिरिक्त मुझे कुछ भी न चाहिए । मुझे तो परवस्तुवों का ज्ञान भी न चाहिए, ऐसे बड़े साहस से अपने आपके आत्मा में ही इस ज्ञान को लगा दें, तपा दें तो इस तपश्चरण के प्रसाद से बिना चाहे तीन लोक, तीन काल का ज्ञान करने वाला ज्ञान प्रकट हो जाता है । जिन गुणों को लोग प्राण देकर भी चाहते हैं वे गुण इस तपश्चरण के प्रसाद से अपने आप सुगमतया प्रकट हो जाते हैं । तत्काल लाभ तो यह है ओर आगामी काल का लाभ यह है कि वह शीघ्र अन्तिम जो पुरुषार्थ है मोक्ष, उसकी सिद्धि को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

तपश्चरण में आनन्द का प्रवाह—यह तप आताप का विनाश करने वाला है । तप में आताप नहीं है, तपन नहीं है, दाह नहीं है, कष्ट नहीं है, किन्तु तपश्चरण में विशुद्ध आनन्द का प्रवाह जग उठता है । वह तपश्चरण है आन्तरिक आत्मस्वरूप में उपयोग को लगाना और निज ज्ञायकस्वरूप का अनुभव जगना । यही है वास्तविक तपश्चरण । इसमें ये दो खूबियां हैं कि तत्काल तो गुण विकास करे, शान्ति प्रकट करे और भावी काल में मुक्ति को प्राप्त कराये, ऐसे तप को कौन विवेक पुरुष न करेगा? जिसे समझ में आ जाये कि करने का काम यही है—तपश्चरण आत्मदर्शन अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । यह करने का काम है, इतना जिसके चित्त में बैठ गया और इस तरह जिसका झुकाव चला रागांश रहने तक, उनके पुण्य बंध तो स्वयमेव होता रहता है ।

धर्मात्मा के पुण्य की प्रचुरता—जब तक यह धर्मात्मा पुरुष संसार में रहेगा तब तक सूखा-सूखा न रहेगा । जितने जीव मोक्ष गये हैं उनमें कोई एक परसेन्ट भले ही ऐसे हों जो मुक्ति जाने से पहिले भी अधिक महिमावान् लोकपूज्य न हुए हों, वरना ये जो जीव मुक्त हुए हैं, वे पुण्य के प्रसाद से बड़े घर के लोग थे, राजा थे, सेठ थे, पंडित थे । उन्होंने अपनी इच्छा से इस वैभव को असार जानकर इन सांसारिक समागमों को मायारूप जानकर त्यागा और इस चैतन्य प्रतपनरूप परम तपश्चरण का उन्होंने आदर किया । उसके प्रसाद से वे मुक्त हुए । घर का कोई आदमी विदेश जाये विलायत वगैरह, तो लोग कितना सगुन समारोह के

साथ विलायत भेजते हैं । जो जीव इस संसार से सदा के लिए विलायत चले जायें, मोक्ष चले जायें तो उनके लिए कितना समारोह, कितना पुण्य रहता होगा ? रूखे सूखे गरीबी ढंग से मुक्ति जाने वाले जीव अल्प है, किन्तु समारोह और पुण्यवानी पूर्वक मुक्ति जाने वाले जीव अधिक होते हैं । इसका कारण यह है कि जो पुरुष आत्मधर्म का सेवन करता है उसके परिणाम इतने निर्मल होते हैं कि पुण्य बंध तो सुगमता होता रहता है । उनका उदयकाल आयेगा तो अनेक वैभव आये और बड़ी पुण्यसामग्री को छोड़कर वे साधु हुए । साधु अवस्था में और और ढंग से पुण्य उनके सामने आता है ।

पुण्यतरु के नाना फल—पुण्य के उदय से जो इष्ट हो वह मिलता है । अथवा कोई धर्मात्मा किसी चीज को चाहते भी नहीं हैं और उदय है पुण्य का तो जनता की दृष्टि में जो बात अति उत्कृष्ट होती है वह उन्हें सहज प्राप्त हो जाती है । पहिले वे यहाँ योगिराज राजा थे या सेठ थे, सब राज्य वैभव या धन वैभव उनके निकट अटूट था । उस सबको त्याग दिया तो अब लोकों के द्वारा पूज्य हो रहे हैं । यशोलक्ष्मी उनके अधिक बढ़ी । पुण्य जायेगा कहां? धन का त्याग किया तो यशकीर्ति लक्ष्मी बढ़ी । पुण्य के उदय से जो जनता को उत्कृष्ट इष्ट है अथवा स्वयं को जो इष्ट है उसकी प्राप्ति होती है । किसी पुरुष को धन इष्ट नहीं है और वह धनिक भी नहीं है, किन्तु सदाचार और सद्भावना लोकोपकार इनमें चित्त दिया है, उसे ये इष्ट हैं तो इस इष्ट की सिद्धि उनके होती है । यही उनका पुण्य उदय है । पुण्य कई प्रकार से सामने आता है । केवल धन मिल जाये यही पुण्य का कार्य नहीं है । यश मिले, लोक में आदर हो, उसकी बात मानी जाये, लोग उस पर विश्वास करें, ऐसी स्थिति बन जाये, यह भी तो पुण्य का ही उदय है ।

तपश्चरण से तात्कालिक व शाश्वत लाभ—ये लौकिक पुरुष जिस काम में, चाहे आगामीकाल में दोष हो, मगर तत्काल गुण हो जाये तो उसे चाहते हैं और कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि तत्काल चाहे अवगुण हो, लेकिन आगामीकाल में वह गुण बन जाये, लाभ की बात हो तो उस कार्य में अनुरागी होकर लग जाया करते हैं । दो तरह की बातें हैं । कोई पुरुष चाहे वर्तमान में अवगुण हो, आगामीकाल में गुण हो ।

उसे चाहते हैं और कोई पुरुष वर्तमान में गुण हो और आगामीकाल में चाहे अवगुण हो, उसे चाहते हुऐ, पर तप की बात तो बड़ी विचित्र है । इस तपश्चरण के प्रसाद से तत्काल भी गुण मिलता है और भविष्यकाल में भी गुण मिलता है । ऐसे तप को कौन बुद्धिमान न धारण करेगा? इस तपश्चरण से जो भी क्रोधादिक कषायें हैं उनका शीघ्र शमन हो जाता है, अभाव हो जाता है । भविष्य में मुक्ति का आनन्द मिलता है । हम आप सब जीव अपने आप स्वभाव से सहज ही आनन्दमय हैं । कष्ट की कोई बात नहीं है । लेकिन कल्पनाएँ उठाते हैं, मन को स्वच्छन्द बनाते हैं और अपने आप कषायवान् बनकर दु:खी होते हैं । हम आपका बैरी कषायभाव है, दूसरा कोई नहीं है ऐसी दृष्टि बनावो । जगत् के सब जीवों पर चाहे कोई अत्यन्त प्रतिकूल हों, वे भी मेरे बैरी नहीं है । उदय है मेरा ऐसा और उस उदय में इस प्रकार की बात बन रही है, पर मेरा बैरी दुनिया में कोई नहीं है । जीव के सुख दु:ख का कारण, अन्तर कारण कर्मों का उदय है । अपनी ही करतूत

से जो उसने पूर्व में कर्म किया उसके अनुसार सुख दु:ख मिलता है । जब उदय प्रतिकूल है तो उस दु:ख में कोई निमित्त तो बनेगा नहीं । कोई जीव किसी दूसरे जीव को दु:खी करने के लिए नहीं यहाँ आया है । अपनी ही कल्पना में दूसरे को दु:ख का निमित्त मानकर दु:खी हो रहा है ।

किसी के द्वारा पर की परिणति करने का अभाव—वास्तव में किसी जीव का कोई दूसरा जीव बैरी नहीं है । जैनशासन पाकर एक यही बात अपने चित्त में रख लें कि मेरा बैरी दूसरा कोई जीव नहीं है । ये कैसे हो? सभी जीव अपने-अपने ज्ञान और आनन्द के इच्छुक हैं । जैसे उन्हें आनन्द मिले, वैसी ही वे अपनी चेष्टायें करते हैं । हमारे लिए कोई नहीं करता है । जो पुरुष जो काम करता है वह अपनी वेदना को शान्त करने के लिए करता है । दूसरे को सुखी अथवा दु:खी करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करता है । कदाचित् इस मनुष्य को ऐसी भी हठ हो जाये कि अमुक पुरुष को दु:खी कर डालें, बरबाद कर दें, नष्ट कर दें—ऐसा परिणाम करके भी चेष्टा करें तो भी इनकी चेष्टा दूसरे को दु:खी करने के लिए नहीं हो सकती । केवल एक अपने आपके विचार कलुषित बनाने के लिए और उस कलुषित फल को भोगने के लिए चेष्टा कर रहे हैं । जब कोई दूसरा पुरुष मेरे लिए कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर मेरा बैरी कौन है? जीव का बैरी कषायभाव है । क्रोध, मान, माया, लोभ—ये समस्त कषाय हम आपके बैरी है, अन्य कोई हमारा बैरी नहीं । इतना निर्णय अपनी मान्यता में रहना चाहिए । दूसरे को बैरी मानने में अपने ही धर्म का घात होता है, अपने ही आनन्द का विघात होता है । जिस काम के करने में हमारा खुद का नुक्सान है, उसे हम करें ही क्यों ? दूसरे जीवों को अपना बैरी समझने में खुद का नुकसान है फिर क्यों किसी को अपना बैरी समझें?

अनेक गुणों का अनायास लाभ—धन्य है वह गृहस्थ जो अनेक प्रसंगों के बीच में रहता हुआ भी ज्ञानबल से अपने आप में प्रसन्न रहा करता है । लोग तो भली बात को, गुण की बात को अपने प्राण गंवाकर भी चाहा करते हैं । ऐसा प्रत्यय ये ज्ञानादिक गुण ऋद्धि सम्पदा, अतिशय, सर्व ये चीजें जिनके लिए लोग प्राणों की बाजी लगा देते हैं । प्राण जायें, पर कीर्ति सम्मान ज्ञान आदिक प्राप्त हो जायें । वे सब गुण जो लोग गुणप्राप्ति के लिए तपस्या करते हैं उनके अनायास स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं । यह तो है तपश्चरण का तात्कालिक गुण । निर्विकाररूप तपश्चरण से क्लेशों की शान्ति हो जाती हैं । ओह ! निर्विकार परिणति में कितना विचित्र आनन्द है ? निज तो निज ही है, वह स्वत: निर्विकार है । विकार भाव हों तो वहाँ क्षोभ हो होगा । विकार की क्षोभ से मित्रता है, शान्ति से मित्रता नहीं है । किसी रूप निरखकर अन्तरंग में काम का विकार जगे, बस समझो अब वह पराधीन होगा, ऐसी प्रतिक्षा करके अपने समय को ही बरबाद करेगा । कोई भी कषाय जग जाये, इस जीव के अनर्थ के लिए हैं । जैसे लोग किसी से बदला चुकाने के लिए बैर भजाने के लिए उसे ताने का पीटने का या छीनने के उपद्रव किया करते हैं । किसी से अपना बदला पूरा लेना हो, बैर भंजाना हो तो उसका डटकर विकट उपाय यह है कि उसे ऐसे साधन जुटा दें कि वह वैभव की, लक्ष्मी की तृष्णा में आ जाये । किसी जीव को तृष्णा लगा दे इससे बढ़कर और कोई विपदा नहीं हो सकती है ।

तपश्चरण की वर्तमान में व भविष्य में गुणकारिता—ये क्रोधादिक परिणाम दूर हो जाते हैं इस परमार्थभूत तपस्या के प्रसाद से । यह इस तपस्या का तात्कालिक लाभ है । यहाँ किस तपस्या की बात की जा रही है ? अपने आपके सहजस्वरूप को जान लेना, विश्वास करना और उस सत्य स्वरूप में ज्ञान बना रहे, बहुत समय तक ज्ञान टिका रहे, ऐसे उद्यम का भावात्मक पुरुषार्थ करना, इसका नाम तपश्चरण कहा जा रहा है । इस तपश्चरण के होने पर क्रोधादिक कषायभाव रह नहीं सकते । यह तो इस तपस्या का तात्कालिक गुण है । अब भावी लाभ क्या है कि तपस्या जिसके लिए की जा रही है ऐसा प्रयोजनभूत जो मोक्ष तत्त्व है उसकी प्राप्ति उसे शीघ्र हो जायेगी । इस प्रकार यह तप इस लोक में भी गुणकर है और इस भव के बाद भावीकाल में भी गुणकर है । ऐसे तपश्चरण में लगने की भावना रक्खें ।

तपश्चरण से जीवन को सफल करने का अनुरोध—भैया ! इस दुर्लभ मनुष्यजीवन को पाकर व्यर्थ के विषय साधनों में मत गँवावें । कौनसा विषय साधन ऐसा है जो समर्थ हो, इस आत्मा को लाभ पहुंचाने के लिए? काम का विषयसाधन यह तो एक विचित्र व्यामूढ़ता है । अशुचि शरीर, दुर्गन्धित शरीर, मायामय शरीर । इसमें रुचि का परिणाम होना यह तो एक विकट हानि है । आत्मा के स्वरूप का इसमें विघात हो जाता है । यह कषायभाव ही इस जोव को दुःख देने वाला है । ये कषाय हमारे ही निज ज्ञान से शान्त होंगे, इनकी शान्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है । ध्यान में लायें मुझे यह आत्महित करना है । अन्य-अन्य कामों में लग रहे हों, दूकान भी करना है, सेवा भी करना है । सब कुछ करते हुए भी मूल में लक्ष्य यह होना चाहिए कि मेरा जीवन आत्मस्वरूप को जानकर उस स्वरूप की दृष्टि में अपने को लगाने के लिए है विषयों के भोगने के लिए यह मनुष्य-जन्म नहीं है । इतना साहस हो तो वह स्वयं अनुभव करेगा कि सर्व आनन्द का कारण तो यह तपश्चरण है । कितना सुगम काम है? अपने आपके ही भीतर में कर लेना है कि जो बाह्यदृष्टि हो गयी है उसे अन्तर्मुख करना है । अपने उपयोग को अपने आपकी ओर लगाना है । बाह्य से मुख मोड़कर एक भीतर ही भीतर अपना काम कर लेना है । जहाँ अपने आपके सहज स्वभाव को निरख कर सभी इष्टतत्त्व प्राप्त हो जाते हैं । ऐसे तपश्चरण के लिए अपना उत्साह जगाना चाहिए ।

श्लोक (११६)

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफलः ।
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः ।।
व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः ।
स घन्यः सन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ।। ११६ ।।

तपश्चरण से आयु और देह की सफलता—जो तप में प्रेम करते हैं ऐसे भव्य जीव आयु और शरीर को किस प्रकार सफल करते हैं ? इसकी प्रशंसा की जा रही है । जिसका शरीर तपरूपी बेल में उपजा है, जिसमें पुण्यरूपी उत्कृष्ट फल लग रहा है, इस प्रकार यह शरीर जैसे कच्चे फल के अग्रभाग में आने पर

फूल झड़ पड़े, ऐसा काल पाकर यह शरीर गल जाता है । इसमें एक दृष्टान्त देते हैं कि जैसे बेल में फूल उत्पन्न होता है और उसमें कच्चा फल लग गया तो जैसे कच्चा फल लगने के बाद फूल झड़ जाता है, ऐसे ही यह शरीर फूल की तरह है और तपरूपी बेल में लगा हुआ है । सो पुण्य के फल को उत्पन्न करके यह शरीरफूल झड़ जाता है । यहाँ शरीर का उपकार भी बता रहे हैं । जैसे बेल में फल लग गया और उसमें जब फल आने को होता है तो फूल झड़ जाता है, ऐसे ही इस तपस्या में तपस्या की बेल में इस शरीर को तप में लगाने के कारण पुण्यरूपी फल उत्पन्न हुआ और पुण्य पैदा करके यह शरीररूपी फूल झड़ जाता है ।

ज्ञानी के आयु की कार्यकारिता—आयु का क्या हाल है? समाधिरूप अवस्था के होने पर संन्यासरूपी अग्नि में यह आयु जलकर समाप्त हो जाती है । जैसे दूध और पानी मिले हुए हों, उसे आग पर रख दिया जाये तो गरमी के मारे यह पानी खुद तो सूख जाता है और दूध को बनाये रहता है । ऐसे ही संन्यास की अग्नि में यह धर्म की तो रक्षा कर देता है और आयु जल की तरह सूख जाती है । एक अलंकार में यह दृष्टान्त कहा है । जैसे दूध गर्म किया जाता है तो वहाँ अग्नि से तपकर पानी तो सूख जाता है और दूध बना रहता है । ऐसे ही मरण के समय में जो त्याग किया जाता है, सल्लेखना धारण की जाती है उस अग्नि से तपकर यह आयु तो सूख जाती है और धर्म की रक्षा बनी रहती है । प्रयोजन यह है कि तपस्या से इस जीव को लाभ ही लाभ है ।

विकाररूप बैरी से छुटकारे का यत्न—इस जीव का बैरी विकारभाव है । ये विकार इस मोही जीव को बड़े सुहावने लगते हैं, पर इन विकारों के कारण जीव की कितनी दुर्दशा होती है? पेड़ पौधों में, कीड़े मकौड़ों में जन्म मरण करना होता है । इन विकारों की रुचि होना, सो मिथ्यात्व है और विकारों की रुचि न होकर एक शुद्ध ज्ञानस्वभाव की रुचि होना, सो सम्यक्त्व है । इस जीव को विकारों में बसने से फायदा कुछ नहीं मिलता । वह गृहस्थ धन्य है जो घर गृहस्थी में रहकर भी धर्म को नहीं भूलता । यहाँ के समस्त समागम अहितरूप है, भिन्न है, इनसे मेरा कुछ पूरा न पड़ेगा, कुछ समय को ही इस मनुष्यभव में आये हैं । यह सब बराबर ध्यान रहे । सभी कार्य करने पड़ रहे हैं, करें, पर ज्ञान वैराग्य बना रहे तो उस व्यक्ति का जीवन सफल हैं । एक यह धुन बन जाये कि मुझे तो केवल एक ज्ञानस्वरूप में अपनी दृष्टि लगाना है, धर्म के लिए एक यही काम पड़ा हुआ है—ऐसी जिसके अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना में धुनि बन जाये, वह ज्ञानी पुरुष अमर है, सर्ववैभवसम्पन्न है ।

आनन्द का स्रोत—भैया ! सुख कहां से आता है ? ज्ञान जैसे बने तैसे सुख दुःख अथवा आनन्द प्रकट होता है । यह सब अपने ज्ञान के आधीन है । कोई इष्टवियोगरूप अपनी जानकारी बनाए, अनिष्ट संयोग में अपना उपयोग लगाये तो उसका दुःखी होना प्राकृतिक है । कोई पुरुष अन्य इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पर ध्यान न देकर पाये हुए समागमों में मौज मानें तो वह सुखी होगा । सुखी दुःखी होना अपने ज्ञान के आधीन है, धन वैभव के आधीन नहीं है । कोई पुरुष धन वैभव से सम्पन्न होकर भी एक अपना ज्ञान कषाययुक्त बनाये, भ्रमपूर्ण बनाये, तृष्णावान् बनाये तो धनी होकर भी वह दुःखी है । धन को तो बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती, राजा,

महाराजा त्याग देते हैं । धन के त्याग करने के बाद, निर्धन अवस्था स्वीकार करने के बाद क्या उन्हें कोई कष्ट होता है ? वे तो अपने ज्ञान की उपासना के आनन्द में सदा मग्न रहा करते हैं और इस ज्ञान की आराधना के प्रताप से उनको मोक्ष प्राप्त होता है ।

आत्मसावधानी का अनुरोध—भैया ! हम आप सबको ज्ञान में तपस्या में, संयम में, व्रत पालने में उत्सुकता होनी चाहिए । मोह, रागद्वेष ये सब अनर्थ करने वाले हैं, ऐसी दृढ़ दृष्टि होनी चाहिए अन्यथा यह आयु तो समाप्त ही हो जायेगी । जो कुछ रागद्वेष, मोह का साधन बनाया है उसका फल अवश्य भोगना होगा । अपने ज्ञान को सदा जागरूक बनाये रहें तो यह दुर्लभ मनुष्य जीवन पा लेना सफल है । सब कुछ करें, अपने विषयसाधन बनाएँ, अपने ज्ञान की रक्षा न कर सकें, अपने आपके स्वभाव की आराधना न कर सकें तो यह मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ है । इसका सदुपयोग कर लें । रहेगा तो यह है नहीं, और यह सब भवों से उत्कृष्ट भव है । ऐसे उत्कृष्ट समागमों को पाकर हम अपना विवेक बनायें, धर्मसाधना करें, अपने को उन्नति पथ पर ले जायें तो भली बात है, अन्यथा आंखें मींच जायेंगी, मरण हो जायेगा, फिर न जाने कहां के कहां पहुंच जायेंगे? इससे अपनी सावधानी बनाये ।

उत्कर्ष की ओर—ये दुनिया के जितने मनुष्य दिखते हैं प्राय: करके मोह में, विषयों में, रागद्वेषों में जुटे हुए है । उनकी क्रिया देखकर, उनकी चेष्टा निरखकर हमें अपने को पतन की ओर नहीं ले जाना है । यह तो संसार है । अनन्त जीव कुमार्ग पर लगे हुए हैं । यहाँ विरले ही मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, अपने ज्ञान की संभाल करते हैं, आत्मदया में लगते हैं, ऐसे बिरले ही मिलेंगे । हमें अपने आपको पतन की ओर नहीं ले जाना है । अपने उच्चविचार बनावें, उच्चभावनाएँ बनावें मुझे तो धर्म में लगना है, ऐसी वाञ्छा बनायें । इस तपस्या के फल से एक बड़ा उत्कृष्ट पुण्य फल मिलेगा । शरीर तो फूल की तरह झड़ जायेगा । मगर उस फूल में फल लगने के बाद फूल तो बड़े होंगे । इसी तरह इस तपस्या की बेल से यह देह का फूल तो झड़ जायेगा, मगर पुण्य का फल एक बड़ा मिलेगा । ऐसे ही त्याग, संन्यास, संयम, व्रतपालन की अग्नि में तपकर यह आयु तो जल की भांति सूख जायेगी, किन्तु यह धर्म दूध की भांति बना रहेगा ।

विनश्वर से अविनाशी तत्त्व के लाभ का यत्न—ये आयु और शरीर दोनों विनाशीक है । विनाशीक चीज व्यय करके अगर अविनाशी चीज प्राप्त होती है तो इससे बड़ा लाभकारी व्यवसाय और क्या हो सकता है? चेतने की बात है । ये आयु और शरीर तो नष्ट होंगे ही । यदि इन्हें विषयों के प्रेम में ही बिता दिया तो जन्म-मरण की परम्परा बराबर बनी रहेगी, जैसी कि अब तक चली आयी है । इस कारण हमें अपने ज्ञान की सावधानी बनाने पर विशेष ध्यान देना है । हमें अपना जीवन धर्ममय रखना है । परिस्थिति में चाहे धनिक की स्थिति रहे, चाहे गरीबी की स्थिति रहे पर धर्मात्मा पुरुष किसी भी स्थिति में धर्म को नहीं छोड़ सकता । ज्ञानी पुरुष को इन सांसारिक सुखों का प्रलोभन नहीं लगा है । उसे तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के निरखने की धुन लगी हुई है । अपने को काम वास्तव में एक यही पड़ा हुआ है कि परद्रव्यों का उपयोग

छोड़कर, संकल्प विकल्प छोड़कर ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निरखते रहें । केवल यही सारभूत काम पड़ा है । बाकी समस्त काम तो इस जीव के लिए विपत्ति रूप है । इतनी बात लक्ष्य में तो होना चाहिए । करना कुछ पड़ रहा हो । अपनी गल्ती, गल्ती के रूप से विदित नहीं हो तो वह अवगुण फिर कैसे समाप्त हो सकता है?

वैराग्य की पराकाष्ठा व ज्ञान का प्रतिबोध—इस ज्ञानी जीव को ऐसा उत्कृष्ट वैराग्य जगा है कि इस अपवित्र और दुःखदायी शरीर के संग वह क्षणमात्र को भी रहना नहीं चाहता । फिर भी इस दुष्ट शरीर के साथ फंसे हुए है तो इससे यों ही आसानी से काम निकाला जा सकता है कि इस दुष्ट शरीर का कुछ काल मैं पालन करता रहूं और इससे विरक्त रहूं । इससे भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप की भावना बनाई जाती रहे तो निकट कालान्तर में इस शरीर से छुटकारा पाया जा सकता है । सच जानों हम आपके साथ जो यह शरीर लगा है यह विपदा है, कष्ट देने वाला है, हमारा बैरी है । इस शरीर को देखकर क्या खुश होना? इस शरीर में कौनसा ऐसा तत्त्व पड़ा है जो खुश होने लायक है? समस्त अपवित्र चीजों से भरा हुआ है । खून, मांस, मज्जा, हड्डी, चर्बी आदि सभी अपवित्र चीजें इसमें भरी हुई है । इसमें कोई भी चीज सारभूत नहीं है । कदाचित् हाथी के दांत और गज मोती अथवा सीप शंखमुक्ता आदि कुछ चीजें लोगों के काम की भी हो सकती हैं, पर हम आप मनुष्यों के शरीर में तो काम की चीज जरा सी भी नहीं है । रोम चाम, हड्डी, पीप, खून आदि ये किस काम आते हैं? यह शरीर प्रेम करने के लायक नहीं है । आराम से रहें, संयम से रहें, खाने में कमी न आये, मौज में कमी न आये । अरे इसमें क्या रक्खा है? इस शरीर को दूसरों के उपकार में लगावों । इसे कष्ट न दो, ये बात थोथी है । इस शरीर का तो जितना उपकार में लगावो, परोपकार में लगावो, तपस्या ओर संयम में लगावों उतना ही लाभ है । शरीर जो कि विनाशीक है, अपवित्र है, इससे यदि पवित्र और अविनाशी कोई काम की चीज प्राप्त होती है तो ऐसे काम में प्रमाद मत करो । ये विरक्त पुरुष किस प्रकार से शरीर के साथ रहकर तपस्या करते है? इस बात को अगले छंद में कह रहे हैं ।

श्लोक (११७)

अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ।। ११७ ।।

ज्ञानी संतों का विवेक—जिन जीवों के उत्कृष्ट वैराग्य पाया जाता है ऐसे जीव शरीर का पालन करके भी बहुत काल तक तपस्या करते हैं । यह सब ज्ञान का प्रभुत्व जानों । देखो लोक में जो पुरुष जिस बात से उदास रहते हैं उस बात का पालन नहीं कर सकते, परन्तु यह ज्ञानी जीव कितना सयाना है कि यह शरीर से विरक्त रहता है, फिर भी अपना काम बनवाने के लायक इस शरीर का पालन करता है । जैसे अपना प्रयोजन सधे वैसे इसको पालता है । कहीं शरीर के अनुराग से शरीर का अधिक पोषण नहीं करता । बड़े-बड़े मुनिराज शरीर से उदास हो गए है, शरीर से अत्यन्त विरत हो गए हैं, परन्तु उन मुनिराज के ऐसा ज्ञान

रहता है । वे जानते हैं कि यह मनुष्य शरीर जब तक रहेगा तब तक हम तपस्या करते रहेंगे । इस शरीर को तपस्या में जुटाने के लिए वे महामुनिराज इस शरीर के साथ एक सेकेण्ड को भी रहना पसंद नहीं करते हैं । अरे कैसा यह अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् अरहंत जैसी सामर्थ्य वाला प्रभु और कैसा हाड़ मांस के शरीर में फंसा हुआ है यह, तो विकट एक अनहोनी खोटी बात हो रही है । इस शरीर को देखकर मोही जीव खुश होता है । यह शरीर खुश होने लायक नहीं है । इससे तो विरक्त ही रहने में लाभ है ।

साधुवों की आहार प्रवृत्ति का कारण—ये महामुनिराज इस शरीर को आहार आदिक देकर इस शरीर के लिए अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए रख रहे हैं । इस शरीर के प्रेम से आहार नहीं देते । ये ज्ञानी संत पुरुष एक धर्म और तपस्या की सिद्धि के लिए इस शरीर को आहार देते हैं । कितना उनका सुन्दर लक्ष्य है? उन्हें खाने से प्रेम है ही नहीं । वे तो अपने धर्म और तपस्या की सिद्धि के लिए आहार देते हैं । ऐसे ये ज्ञानी मुनिराज शरीर को रखकर बहुत समय पर्यन्त तपस्या करते हैं । यह ज्ञान का ही माहात्म्य है । भैया ! वैराग्य तो हो ऊचा और ज्ञान साथ दे नहीं, तो वह तो अपने शरीर की हत्या कर डालेगा । यह शरीर दुष्ट है, मुझे बरबाद करने वाला है ऐसा जान कर शरीर का विछोह कर दे, लेकिन यह ज्ञानी इस शरीर का यों विछोह नहीं कर देता ।

ज्ञानियों की वृत्ति—ये ज्ञानी पुरुष इसे समझाते हैं कि भाई ! इस मनुष्यभव को तपस्या में लगावों । ज्ञान न हो तो बड़े उग्रपरिणामों के कारण यह शरीर का नाश कर देता तो होता क्या ? मान लो कुछ पुण्य के कारण देवपर्याय पाता तो उस देवपर्याय में संयम की सिद्धि नहीं हैं सो असंयमी रहकर अपना जीवन पापों में व्यसनों में व्यतीत करता, पर ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं करते हैं । इस शरीर को रखने से तपस्या करते बन सके तो निकट काल में ही निर्वाण प्राप्त हो जायेगा । इस कारण ज्ञानी पुरुष इस शरीर की रक्षा के हेतु आहार देते हैं, पर शरीर के प्रेम से नहीं । अहो ! ज्ञानी पुरुषों को अपने आत्मस्वभाव के पालने की कितनी उत्कृष्ट धुनि लगी है? वे संसार में अन्य कुछ नहीं चाहते । मेरे उपयोग में मेरा ज्ञानस्वभाव निरन्तर बना रहे सिवाय इसके उनके और कोई चाह नहीं है । ऐसे ये ज्ञानी पुरुष अपने अंतस्तत्त्व की आराधना करते हैं ।

श्लोक (११८)

क्षणार्द्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः ।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ।। ११८ ।।

साधुवों का वैराग्य और विवेक—समस्त क्लेशों का कारण यह शरीर है । साधुसंतजन इस बात से बहुत परिचित हैं कि जितने भी क्लेश हैं, शारीरिक मानसिक अपमान आदिक के, ये सब क्लेश इस शरीर के कारण हैं । इस शरीर से मुक्ति मिले तो क्लेशों से छुटकारा मिलेगा । केवल ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव किया जाय तो यह शरीर छूटेगा, सदा के लिए इससे मुक्ति मिल जायेगी और इसे परम आनन्द प्राप्त होगा । ऐसा जानकर साधुजन यही चाहते हैं कि यह शरीर जल्दी से जल्दी दूर होना चाहिए । और इस शरीर से

मुक्ति पाने के लिए वे कठिन से कठिन तपस्याएँ भी करते हैं । साधु संतों की ऐसी कठिन तपस्या हो सकती है कि जिससे यह शरीर शीघ्र दूर हो जाये, किन्तु एक यह विवेक की बात है । उन साधुवों को मानों पहुंचा पकड़कर यह ज्ञान समझाता है कि तू इस शरीर को इतनी जल्दी बरबाद मत कर दे । यदि तू अचानक बीच में ही मरण कर जायेगा तो मरकर देव बनेगा । देवपर्याय में असंयम ही रहेगा, फिर तेरी मुक्ति और दूर हो जायेगी । तू इस शरीर को बड़ी कठिन तपस्या करके बीच में ही मत सुखा दें, बीच में ही अपनी मृत्यु न प्राप्त कर ले । इस शरीर को पाल पोष विरक्ति बुद्धि से क्योंकि इस देह से तपश्चरण के सहयोग का काम लेना है । यदि ज्ञान मानों हाथ का पहुंचा पकड़कर रोकने वाला न होता तो ये मुनि आधा क्षणमात्र भी शरीर के साथ रहना पसंद न करते ।

दृष्टान्तपूर्वक दुष्टसंग के त्याग की पद्धति का प्रकाशन—जैसे किसी पुरुष की किसी से मित्रता चली आयी हो और पीछे उसका दुष्टपना ज्ञान में आ जाय, यह मित्र कपटी है, दुष्ट है, ऐसा ज्ञान में आ जाय तो वह चाहता कि मैं इससे लड़कर तत्काल इसका संग छोड़ दू । किन्तु कोई तीसरा पुरुष जो सयाना है, वह मानों उस पुरुष का हाथ का पहुंचा पकड़कर समझाता है कि तू इस कुमित्र को बरबाद करने की जल्दी मत कर क्योंकि अचानक ही तू इस प्रकार लड़ बैठेगा तो यह आगामी काल में दु:ख देने वाला बनेगा, सो कुछ दिन इसके संग में रखकर फिर धीरे-धीरे जैसे इसका विनाश हो वैसा कार्य करना । इस ही प्रकार इस आत्मा का इस शरीर से प्रेम था और यह प्रेम अनादिकाल से चला आ रहा था । आज ज्ञान में आया कि हमारे समस्त क्लेशों का कारण यह शरीर है जो शरीर मिलता है । शरीर में ममत्व बुद्धि करके यह जीव शरीर का मोह और अनुराग बढ़ाया करता है । जान लिया कि शरीर दुष्ट है, क्लेशों का कारण है तो कोई साधु विरक्त ज्ञानी पुरुष बहुत उतावली करता है कि मैं इस शरीर को नष्ट कर दूं । सो वह शरीर के नाश का यत्न करता है । लेकिन ज्ञान इसे समझता है कि तू इस तरह का अविवेक मत कर । शरीर को तू यों ही जबरदस्ती असमय में मत छोड़, क्योंकि इस प्रकार शरीर को छोड़ने से अर्थात् बड़े तपश्चरण करके भूखे प्यासे रहकर इस शरीर को त्याग देने से अर्थात् मरण कर जाने से चूँकि कुछ शुभकार्य तू ने किया है, पुण्यकर्म का बंध हुआ है, सो उसके उदय में तुझे देवगति मिलेगी । देव बन गया तो तू वहाँ असंयम में रहेगा, क्या लाभ मिलेगा तू उतावली मत कर । तू इस शरीर को धीरे-धीरे इसकी रक्षा करते हुए इसको निर्बल कर, इससे तु अपनी ममता हटा, अपनी ज्ञानभावना को पुष्ट कर तो इस ज्ञानभावना के प्रसाद से तुझे वह बल मिलेगा कि यह शरीर विधिपूर्वक सदा के लिए छूट सकेगा और लाभ में रहेगा । इस प्रकार यह शान इन साधु संत-जनों को सम्बोधन करता है और शरीर में रखे रहता है ।

आहार का प्रयोजन—उक्त कथन का अर्थ यह लेना कि साधु लोग जो आहार ग्रहण करते हैं वह आसक्ति, अनुराग, प्रेम के वश होकर नहीं करते, किन्तु वैराग्य तो उनमें इतना है कि वे चाहते हैं कि शरीर को अभी त्याग दें, क्योंकि उन्हें अपने निज ज्ञानस्वरूप से ही अनुराग है, लेकिन ज्ञान समझाता है, ज्ञान आहार करवाता है, साधु आहार नहीं करते । इस शरीर को रख, इससे संयम की रक्षा कर, अपने

आध्यात्मिक तपश्चरण में इसे लगा । इस प्रकार ज्ञान इस शरीर की रक्षा करवाता है । ज्ञान रोकनहार न हो तो कौन मुनि इस शरीर को साथ रक्खे? जानकर भी प्रयोजनवश इस शरीर को साथ रखना पड़ रहा है । ये साधु संत जन जानते हैं कि यह शरीर क्लेश का कारण है, इसका सहवास बुरा है । यह अमूर्त ज्ञानादिक गुण भगवान् आत्मा एक इस शरीर के सम्बन्ध के कारण बन्धनबद्ध बना हुआ जगत् में डोल रहा है, जन्म मरण कर रहा है । इस शरीर से इस जीव को क्लेश ही क्लेश है । वे चाहते हैं कि इस शरीर को छोड़ दें, पर ज्ञान उस शरीर को आहार करवाता है, कुछ काल तक उसको साथ रखाता है । जितने काल तक यह शरीर साथ रह रहा है, उतने काल तक ये साधु अध्यात्मसिद्धि करते हैं ।

श्लोक (११९)

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान् ।
तपस्यन्निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान् ।
किलाटद्विक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सूचिरं ।
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ।। ११९ ।।

आदिदेव—आज यह पंचमकाल चल रहा है, इसे कलियुग बोलते हैं । कलि मायने अशुभ अथवा पाप उसका युग कलियुग । जनता की जिस ओर सहज प्रवृत्ति जगे, ऐसे युग का नाम है कलियुग । कुछ लोग आज के युग को मानते हैं कलयुग, मायने मशीनों का युग । इस कलियुग के पहिले चतुर्थकाल था । चतुर्थकाल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है । उस चतुर्थकाल के आदि में अथवा उसके कुछ ही महीने पहिले आदिनाथ भगवान् का जन्म हुआ था । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे । उनकी महिमा का कौन वर्णन करे? आज ईश्वर सृष्टिकर्ता है, ऐसी मान्यता के बहुत लोग है । इस मान्यता के आधार भी श्री ऋषभदेव हैं, क्योंकि भोगभूमि के अन्त में जब कि सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, भोगभूमि में धर्म का भी प्रसार नहीं था और आजीविका का भी कोई साधन नहीं किया जाता था, क्योंकि कल्पवृक्ष के कारण जो इष्ट चीज हो, मिल जाती थी । जब भोगभूमि का अन्त आया तो कल्पवृक्ष से चीजें मिलना बन्द हो गया, और धर्म का तो प्रचार था ही नहीं । ऐसी परिस्थिति में जब कि लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे, उस समय आदिनाथ भगवान् ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा— इन षट्कर्मों का उपदेश देकर और देवपूजा, गुरूपास्ति आदि इन सब भावकों के षट्कर्तव्यों का उपदेश दिया था, धर्म की रक्षा की थी, जनता की भलाई की थी । उस समय ऐसा ही मालूम होता था, जैसे मानों नवीन सृष्टि की जा रही हो । जहाँ सब लोग भूखे प्यासे रह रहे हों, क्या करना चाहिए, कैसे रहना चाहिए, यह कुछ भी विदित न हो, उस समय इन सब निधियों का उपदेश दिया जाये तो समझ लो कि सभी लोग एक सृष्टिकर्ता के रूप में समझेंगे । यों सृष्टिकर्ता के रूप में लोग जिस ईश्वर को मानते हैं वे मूल में ये ही श्री ऋषभदेव थे ।

कैलाशपति आदिदेव—कैलाशपति के रूप में जो बात धीरे-धीरे चलकर अन्य किसी रूप में प्रसिद्ध हो

गयी । वे कैलाशपति थे, मूल में आदिनाथ ऋषभदेव भगवान् । क्योंकि गृहस्थावस्था के त्याग के बाद इनका जो समय बीता, अधिकतर कैलाशपर्वत पर बीता और कैलाशपर्वत से ही वे निर्वाण पधारे । जिन ऋषभदेव की आज्ञा बड़े-बड़े राजा महाराजा महामंडलेश्वर मानते थे, उन्होंने समझ लिया और अनुभव कर लिया कि इस लोक में सारभूत पदार्थ मेरे लिए कुछ नहीं है । ये बाहरी समस्त परपदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए अपने-अपने परिणमन से परिणमते जाते हैं, इन बाह्यपदार्थों से मेरा रंच भी सम्बन्ध नहीं है, न मेरा इनसे हित है, न सुख है, न इन पर मेरा अधिकार है । यह समस्त बाह्यपदार्थों का व्यामोह ही इस जीव को संसार में रुलाता है, जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाता है, ऐसा जानकर इन्होंने समस्त साम्राज्य का परित्याग कर दिया था ।

आदिदेव की धर्मसाधना के प्रसंग में कष्टसहिष्णुता—आदिनाथ भगवान् के गृहस्थावस्था में जो ऐश्वर्य था, साम्राज्य था, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? उस समस्त साम्राज्य को जीर्ण तृण की भांति असार समझकर परित्याग किया और ६ माह तक तो तपश्चरण करने की प्रतिज्ञा ली थी । निष्कम्प एक ही स्थान पर उन्होंने ६ माह तक मौनपूर्वक अनशन व्रत धारण करके तपस्या की । जब ६ महीने पूरे हो गए तब आहार करने के लिए रोज-रोज जायें । कवि की कल्पना में मानो वह भूखे आदिनाथ प्रभु कुछ आशा रखकर दूसरों के घर के दरवाजे पर डोलते रहे । मगर ६ माह तक आहार का लाभ न हुआ । तो देखो ६ माह तक तो अनशन व्रत किए हुए हो गए थे और उसके बाद ६ माह तक आहार और नहीं मिला । इतने काल तक इतनी कठिन तपस्या की । ये सब दुःख उन्होंने क्यों भोगा जहाँ चाहे खा लेते, उन्हें आहार कराने वाले बहुत से लोग थे । क्यों इतने कठिन क्लेश उन्होंने सहे ? उन कष्टों के सहने का कारण केवल एक यही था कि उनकी यह भावना थी कि इस शरीर से, कर्मों से, इन समागमों से छूटकर मैं सदा के लिए छुटकारा पा जाऊँ । इस प्रकार मुक्ति की परम अभिलाषा में मोक्षमार्ग के कार्य के लिए इतने कठिन क्लेश उन्होंने सहे । ठीक है, जिसको जो कार्य रुच गया है उस कार्य के वास्ते वह क्या से क्या उपसर्ग, उपद्रव, संकट सह नहीं सकता ? भगवान् तो बड़े राज्य को तृण की तरह जानकर उसको त्यागकर भोजन के अर्थ बहुत काल तक भोजन को पर-घर गये और पाया भी नहीं । सो देखो अपने आत्मा की निधि के विशुद्ध कार्य के प्रयोजन से इतने-इतने बड़े परिषह सह लिए जाते हैं तो कोई दूसरा पुरुष यदि कुछ उपसर्ग करे तो क्या वह परिषह न सहना चाहिए ?

आशयविशुद्धि की आवश्यकता—मनुष्य को अपना आशय बहुत पवित्र रखना चाहिए । उन्हें बाहरी संभाल की अधिक चिन्ता न करनी चाहिए । उनमें अधिक न घुसना चाहिए । अपनी भीतरी संभाल बराबर बनाये रहें, चाहे दूसरे लोग कुछ भी प्रतिक्रिया करें । खुद का यदि विशुद्ध आशय है तो दूसरों की चेष्टा से, अपमान से अथवा अन्य व्यवहार से अपने को अशान्ति नहीं हो सकती । खुद ही अगर न्यायमार्ग से चलित हो जायें तो स्वयं के ही अपराध के कारण हम स्वयं दुःखी होंगे । इससे प्रत्येक परिस्थिति में अपना आशय विशुद्ध रखना चाहिए । आशय की विशुद्धि के लिए मुख्यतया ६ बातों पर दृष्टि रखना है । हम मोह, काम, क्रोध, मान,

माया लोभ के वश न हो जायें ।

मोहत्याग का प्रथम कर्तव्य—हमारा प्रथम कर्तव्य है कि किसी परवस्तु में हमें व्यामोह न उत्पन्न हो । यह घर है सो भी मेरा है, परिजन हैं सो भी मेरे हैं, यह मेरा वैभव है, इससे ही मेरा बड़प्पन है । मैं इतना वैभववान् हूँ, इतने परिजन वाला हूँ, मैं ऐसी इज्जत, पोजीशन का हूँ, यों किसी भी प्रकार का लगाव रहा तो यह मोह इस जीव को जन्म जन्मान्तर में दु:खी कर डालेगा । मोह न रहे, इसका सही उपाय जैनदर्शन में बताया है । यद्यपि और लोग इस तरह विचार कर अपना मोह दूर किया करते हैं कि जगत् में जो कुछ भी ऐश्वर्य है, वैभव सम्पदा है यह सब ईश्वर का है । तू इसमें राग मत कर, ईश्वर की चीज है, इसको तू अपना मत मान । इस तरह मोह को दूर करने का उपाय बताते हैं । हम अपना लगाव मिटाने की कोशिश करें और स्वयं को ईश्वर में लगा दें । दूसरी बात यह है कि सबके स्वरूप का यथार्थ प्रकाश बना रहे तो मोह न रहे । इस प्रकाश का यथार्थ भान तब तक नहीं हो सकता जब तक उन वस्तुवों का यथार्थस्वरूप ध्यान में न आये । यह कैसे ईश्वर का है, कैसे इसे किया, कैसे उसकी चीज है, यह बात जब स्पष्ट नहीं हो पाती है तो मुख से कहने पर चूंकि उस पर विश्वास नहीं हो सकता, सो यह मेरा है, यों मानकर वे मोह में ही मस्त रहते हैं । जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु का स्वरूप उनके अपने-अपने चतुष्टय में तन्मय बताया है । ये प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से तन्मय है । यह मैं भी अपने स्वरूप में तन्मय हूँ । अणु-अणु सब अपने-अपने स्वरूप में तन्मय है । यह बात जब ज्ञात कर ली गयी तो वहाँ मोह ठहर नहीं सकता । प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है, उसका सत्त्वमात्र उसमें ही है । तब मेरा साथी कोई अन्य हो ही नहीं सकता । यहाँ मोह टूट जाता है । मोह का दूर करना सबको आवश्यक है । गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, प्रत्येक होनहार जीव को निर्मोह होना ही चाहिए ।

कामपरिहार का आवश्यक कर्तव्य—दूसरी बात है कामासक्ति न हो, कामवासना से दुर्वासित न हो । ज्ञानी पुरुष यों समझता है—आत्मा स्वरूप से स्वभावत: निर्विकार है, इसका तो मात्र ज्ञातास्वरूप है, इसका कार्य समस्त पदार्थों को जानते रहना मात्र है, इसमें विकार कहां ? ज्ञानी पुरुष तो इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि इस ज्ञानस्वरूप पदार्थ में ये कामादिक भावों की तरंग कैसे आ जाती है? यह ज्ञानी अपने को निर्विकार निष्काम निरखकर इन कामों से विरक्त रहता है । निष्काम रहना चाहिए अपने ज्ञानस्वभाव की साधना में उपयोग लगाये रहे, यही निष्काम होने का अमोघ उपाय है । कल्याणार्थी पुरुष को इस कामबाधा से दूर रहना चाहिए ।

क्रोधविजय का कर्तव्य—तीसरा कर्तव्य क्रोध पर विजय करने का है । क्रोध तब विशेष उत्पन्न होता है जब शरीर में आत्मबुद्धि रहती है । किसी पुरुष ने कोई अपमान भरी बात कही तो अपमान तब महसूस कर पाते हैं जब इस विनश्वर शरीर को यह मैं हूँ ऐसा माना करते हैं । यदि हम अपने को सबसे निराला ज्ञानमात्र अनुभव किया करें तो वहाँ क्रोध करने की कहां गुंजाइश है?

मानपरिहार का कर्तव्य—चौथा कर्तव्य है इस जीव का घमंड न करने का । मैं इन जीवों में श्रेष्ठ

कहलाऊ, मुझे लोग बड़ा माने अथवा मैं बहुत से मनुष्यों से बड़ा हूँ, इस प्रकार चित्त में बड़प्पन की भावना रखना इन सांसारिक समागमों को करना यही तो मानकषाय है । इस मान कषाय को मेटें तभी हम अपनी शान्ति पाने के हकदार हो सकते हैं । कैसा व्यर्थ का घमंड? जैसा मैं जीव हूँ, उससे भी भले जीव अनेक हैं । मुझसे भी बहुत बड़े जीव भावों से भी बड़े, पुण्य में भी बड़े अनेक जीव है । किस बात का यहां मद होना ? अपने को निर्मान, विनम्र, अपने ज्ञानस्वरूप की ओर झुका हुआ बनायें ।

मायाचार परित्याग का कर्तव्य—कल्याण के लिए यह भी आवश्यक है कि चित्त में मायाचार और कपट का परिणाम भी न रक्खें । अरे जो-जो चीजें हैं वे मुझसे त्रिकाल तक छूट नहीं सकतीं । जो बात शुरू में नहीं है वह त्रिकाल मुझमें आ नहीं सकती । यह मैं आत्मा अपने गुणों में तन्मय हूं । जो मुझमें है वह मुझमें ही है । जो बात मुझमें नहीं है वह त्रिकाल मुझमें आ नहीं सकती । यह मैं आत्मा अपने गुणों में तन्मय हूं । यहाँ किस वस्तु की प्राप्ति के लिए मायाचार किया जाता है ? इस लोक में मेरे आत्मतत्त्व को छोड़कर मेरे लिए सार शरण अन्य कुछ भी नहीं है । फिर किसके लिए मैं मायाचार करूँ ? माया कषाय का परित्याग होना चाहिए ।

लोभपरिहार की आवश्यकता—अन्तिम बात है लोभत्याग की । तृष्णा परिणाम अपने आपके आत्मा में अपने आपकी कल्पना से उत्पन्न होता है और अपना विस्तार बढ़ाता है । उस वस्तु में यह जीव बेचैन बना रहता है । तृष्णा तीव्र तृषा से भी भयंकर बाधा देने वाली चीज है । इस तृष्णा पर विजय प्राप्त करो ।

कष्टसहिष्णुता व धर्मसाधना का कर्तव्य—हे भव्य जीव ! तू कष्टों को खुशी-खुशी प्रसन्न होकर भोग, किन्तु स्वभावोपलब्धि का कार्य अवश्य कर । इससे ही तेरे को कल्याण प्राप्त होगा । जो जिस कार्य का अर्थी है उसे थोड़ा बहुत कष्ट भी सहना पड़े तो उस कष्ट को सहकर भी अपने कार्य की सिद्धि वह अवश्य कर लेता है । उसी के उदाहरण में यह कहा जा रहा है कि ऋषभदेव जैसे महापुरुष राज्य का त्याग कर भोजन के लिए ६ माह तक घर-घर फिरते रहे । जब महापुरुषों ने एक अपने धर्मकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा कार्य किया है तो हम आपको सत्कार्य में क्यों लज्जा आती है? कष्ट की बात तो दूर जाने दो । कई लड़के तो यों कहते हैं कि मुझे मंदिर जाने में शर्म लगती है, वे तो मंदिर नहीं आते । अरे धर्मकार्य की सिद्धि के लिए कोई कष्ट आ पड़े तो उस कष्ट का सहना भी उचित है । ऋषभदेव जैसे महापुरुषों ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए कितने-कितने कष्ट सहे? फिर हम आपको अपने इष्टकार्य की सिद्धि के लिए क्यों लज्जा आती है? अपने इष्टकार्य की सिद्धि अनेक कष्ट सहकर भी करें, यही अपने कल्याण के लिए उचित कार्य है ।

श्लोक (१२०)

पुरा गर्भादिन्द्रों मुकुलितकर: किंकर इव ।
स्वयं स्रष्टा सृष्टे: पतिरथ निधीनां निजसुत: ।
क्षुधित्वा षण्मासात् स किल पुरुरप्याह जगती-

महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः ।। १२० ।।

सुखसाधन संचय का अनुत्तरदायित्व—इस छन्द में कष्टों के सहन करने का परिणाम बनने को कहा गया है । इस जगत् में कोई यह चाहे कि हम अपने कोई साधन ऐसे बना लें कि कभी दुःख न हो और सुख सामग्री ही रहे, तो उसका यह सोचना गलत है । यहाँ कोई साधन ऐसा नहीं बन सकता कि जिससे यह जीव दुःख न पाए, सुखी ही रहे । जैसे कोई सोचे कि हम इतनी जायदाद बना लें, फिर आराम से जिन्दगी कटेगी, कोई क्लेश न होगा तो यह भी कोई गारन्टी की चीज नहीं है । धन हो जाने पर और है तो कहना पड़ता होगा, ऐसा कहा हो तो उसके फल में ६ महीने तक भी अधिक क्लेश होगा । वास्तव में क्लेश नाम तो मन की कल्पना का है । जब अज्ञान और मोह समाया हुआ है तो कुछ भी स्थिति हो जाये, कल्पना करेगा और दुःखी होगा । इस लोक में कोई बाहरी साधन मिलाकर उससे अपने को सन्तुष्ट माने तो वह उसका व्यामोहमात्र है । हम साधन ऐसे बना लें तो फिर दुःख न मिलेगा, ऐसा सोचने के बजाय ऐसा सोचो कि हम कष्टसहिष्णु बने । कष्ट सह लेने की हिम्मत हो तो फिर दुःख न रहेगा ।

ज्ञानी के निर्धनता और मरण से अक्षोभ—भैया ! दो ही तो प्रधान माने गए कष्ट हैं । एक तो निर्धनता आना और दूसरा मरण आना । ज्ञानी पुरुष निर्धनता को कष्ट नहीं मानते हैं और ऐसा समझते हैं कि मेरा स्वरूप तो धनरहित है ही । मैं तो मात्र ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ । मुझमें धन कहां है? कोई प्रसंग ऐसा आया हो जिस प्रसंग में ऐसी शंका हो कि इसमें १० हजार का टोटा है तो मान ही लो कि इसमें १० हजार का नुक्सान हो चुका, लो दुःख समाप्त हो गया । अरे बाह्यपदार्थ किसी भी रूप परिणमन करें, आखिर वे हैं तो पर ही पदार्थ । उन परपदार्थों के परिणमन से इस मुझ आत्मा में कोई सुधार बिगाड़ नहीं है । हिम्मत बनाओ और सुखी हो लो, कोई सांसारिक कष्ट आये । कर्मों के विचित्र उदय होते हैं, उन उदयों के अनुसार कोई अपने को कष्ट आ गया, रोग हो गया, इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया, कुछ भी परिस्थिति प्रतिकूल आ जाय, उसमें अपने विवेक को संभालें । सबसे निराले ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को देखो और सुखी हो लो ।

कष्टसहिष्णुता का उत्साह—सुखी होने की धुन में इन कल्पनावों का विस्तार मत बनावो कि मैं ऐसा कर लूँगा, इतना कर लूँगा तो दुःख न आयेगा, ऐसा सोचने से होगा कुछ नहीं, बल्कि यह निर्णय रख लो कि मुझमें वह शक्ति है कि कितने ही कठिन क्लेश आयें, उन क्लेशों को हम समता से सह सकते हैं । क्लेशों को मिटायें कैसे ? कदाचित् दो क्लेश मिटाये तो चार आते हैं । सब अपनी-अपनी बार अनुभव से सोच लो । कोई कष्ट सामने आये उसको दूर करने का यत्न किया और दूर हो भी गया तो दूसरा सामने आया उसको दूर करने का यत्न किया और दूर हो भी गया तो तीसरा अन्य कष्ट तुरन्त सामने आता है । क्योंकि कष्ट किसी अन्य पदार्थ से नहीं आता, न कष्ट कोई बाहरी चीज है । अज्ञान और मोह से जो अपने आपमें कल्पना जग जाती है उसी का नाम कष्ट है । ऐसा जब तक ज्ञान न जगे और कर्मोदय से कोई प्रतिकूल घटना आ जाये तो उसको सहन कर सके ऐसा शील न बने तब तक यह जीव शान्ति नहीं पा सकता ।

ज्ञानबल से कष्टों पर विजय—यह लोक कष्ट ही कष्ट से भरा हुआ है सभी मनुष्य जो यहाँ है हम आप सभी यही सोचा करते हैं कि हमारे जीवन में कष्ट ही कष्ट बने हुए है । कभी सुख के साधन मिलें तो तृष्णा के कारण उस सुख के साधन का उपयोग नहीं किया जा सकता और दु:खी दिखने लगते हैं । एक दु:ख समाप्त नहीं हुआ कि दूसरा दु:ख सिर पर आ पड़ता है । इस लोक में कष्ट से रहित साधन बनाकर कोई चाहे कि हम सुखी हो जायें तो ऐसा न हो सकेगा । ज्ञान बनाकर बाह्यपदार्थों की परिणति को बाह्य परिणति मानकर किसी भी स्थिति में अपने को कष्ट न मानें तो इस जीव का गुजारा हो सकता है ।

आत्मसिद्धि के प्रकरण में कष्टसहिष्णुता का स्थान—एक घटना बहुत प्रसिद्ध है, पुराणों की है । भगवान ऋषभदेव हुए हैं । गर्भ से ही वृत्तान्त सुनो । जब वे सर्वार्थसिद्धि से चयकर गर्भ में आए थे । गर्भ में आने से ६ महीने पहिले से और जन्मकाल तक अर्थात् १५ महीने तक इन्द्र ने व कुबेर ने उनके महल में रत्नवृष्टि की थी । गर्भ में आने से ६ महीने पहिले से ही पुण्य वैभव बढ़ने लगा था । जिनकी सेवा में इन्द्र हाथ जोड़े खड़ा रहता था दास की तरह । इन्द्र की सदा यह इच्छा रहा करती थी कि ये ऋषभदेव जो कुछ चाहते हों, जो इनकी इच्छा हो, झट मैं उसकी पूर्ति करूँ । ऐसे इन्द्र जिनकी सेवा को चाह रहे थे, उन ऋषभदेव की कहानी बतला रहे हैं कि साधु होने के बाद ६ महीने तो मौन व्रत लेकर तपश्चरण किया ही था, पर उसके बाद आहार को निकले तो ६ महीने तक आहार का योग न मिला । ऐसे महापुरुष ऋषभदेव जिनको लौकिक जनों ने एक दशम अवतार के रूप में माना गया है लोक में, जो इस चतुर्थकाल के आदि में, तृतीय काल के अन्त में हुए, तब प्रजा को सुख का मार्ग जिन्होंने बताया और इसी कारण वह सृष्टिकर्ता कहलाये । उन ही ऋषभदेव को लोग ब्रह्मा कहते हैं, जगत्सष्टिकर्ता कहते हैं । उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती थे । भरतचक्रवर्ती उन दिनों भी थे जिन दिनों ऋषभदेव को ६ महीने तक आहार के लिए निकलने पर भी आहार न मिला । इस घटना से हम शिक्षा लें, धर्मसाधन के लिये कष्टसहिष्णु बनें ।

कष्टसहिष्णुता का उत्साह—कोई ऐसा बताते हैं कि इन्होंने ही कृषि के सम्बन्ध में उपदेश दिया था । फसल काटने के बाद अन्न निकाला जाता है । उस पर बैलों को खूब घुमावों ओर ये बैल अन्न न खा सके, सो इनके मुँह में सीका लगावों । सभी प्रकार की बातें जब गृहस्थों के लिए उपदेश दी गई सो अन्तराय हुआ ऐसा कुछ लोग कहा करते हैं । तथ्य क्या है? यह प्रमाणित तथ्य सुविदित नहीं होता । तथ्य तो यह है कि इस प्रकार उनके कर्मों का उदय आया जिसकी वजह से ६ महीने तक भ्रमण करना पड़ा । तब हम आपकी कहानी क्या है? यह लोक कष्टों से भरा हुआ है । यह मोही जीव कभी कोई विषयसाधन पाकर अपने कष्टों को भूल जाता है और सुख में रम जाता है । वहां भी यह जीव आकुलित ही है, वस्तुत: केवल एक कल्पना से सुख मान लिया है । यह लोक कष्टों से भरा हुआ है । इन कष्टों को टालने का प्रयत्न न करके कष्टों के सहन करने की हिम्मत बने तो कष्ट भी टलेंगे और विशिष्ट पुण्य का बंध भी होगा । अपना जीवन कष्टसहिष्णु बनाएँ और धर्मकार्य करते हुए की स्थिति में किसी प्रकार का कष्ट आ जाय तो उस कष्ट से विचलित न हूजियेगा ।

परिस्थितियों के ज्ञातृत्व का शिक्षण—कोई यह समझे कि मैं सुखसामग्री मिला मिलाकर सुखी हो जाऊँगा तो ऐसी संसार में कोई परिस्थिति नहीं है कि प्रबल कर्म का उदय आने पर उस कष्ट को दूर कर सकें । इसी बात को समझाने के लिए ऋषभदेव का उदाहरण दिया गया है । जिनके इन्द्र तो किंकर थे और जिन्होंने उस समय सब रचना रची, सो इस जगत् के पिता कहलाये, सृष्टिकर्ता कहलाये । सबकी आजीविका का साधन बताया । ऐसे-ऐसे बड़े पुरुषार्थ वाले थे वे ऋषभदेव और उनके पुत्र थे भरत चक्रवर्ती ऐसे महान् ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी अन्तराय का जब उदय आया तो ६ महीने पर्यन्त भोजन के अर्थ भ्रमण किया, तब अन्य की तो बात ही क्या है? यह निर्णय बनावो कि मैं कष्ट को कष्ट ही न मानूंगा और यों निरखूंगा कि यह परपदार्थों का इस प्रकार का परिणमन है, परपदार्थ निकट आते हैं तो उनके भी ज्ञाता रहेंगे । परपदार्थ बिछुड़ते हैं तो बिछुड़े तो उनके भी ज्ञाता रहे । कष्ट कहां है ?

कष्टसहिष्णुता का प्रयोग का उत्साह—जहाँ तक कोई शारीरिक कठिनाई व्याधि नहीं उत्पन्न हो, कम से कम तहां तक तो बाहरी पदार्थों की परिणति निरखकर कष्ट न मानने का अभ्यास तो बनावो । कोई बात शरीर पर बीत जाय, व्याधि हो, अन्य कोई आक्रमण करे, पीटे मारे—ऐसी स्थिति में चाहे हिम्मत न बन सके कि शरीर परपदार्थ है, शरीर का परिणमन शरीर में हो रहा है होने दो, मैं स्वयं पृथक् सत् हूँ, मेरा सत्त्व मुझमें ही है । यों शरीर से भी भिन्न अपने आपको निरखने का बल न प्रकट हो शारीरिक राग के कारण, तो कम से कम इन शारीरिक कष्टों के अतिरिक्त अन्य समस्त स्थितियों में हिम्मत बांधे, साहस बनायें कि मैं कष्ट कुछ न मानूंगा । धन कम होता है तो होने दो, उसकी कुछ भी स्थिति हो उसके ज्ञाता रहो, फिर कष्ट कहा रखा? इस मायारूप देह से अपने को भिन्न मानों । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस मुझ आत्मा का काम केवल जानना देखना है, इसमें रागद्वेष मोह का कोई संकट नहीं है—ऐसा केवल ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव किया जाय, वहाँ कष्ट का क्या काम है?

ज्ञातृत्व व कष्टसहिष्णुता का पुरुषार्थ—कर्मों के उदय से थोड़ा बहुत कष्ट उत्पन्न हो तो उसको भी सहकर ऐसा चिन्तन करना कि यह तो होने को ही था, कौन इसे रोकता है? मुझ पर यह बात बीतनी थी, बीती है । अब उस परपरिणति को जानकर, बाहरी वेदना जानकर उसकी पीड़ा और कष्ट अनुभव में न लायें, यह हिम्मत बने तो अपने आपको लाभ पैदा होगा । हम कायर बन जायें, परचेष्टा को अपनी परिणति मान लें तो उसमें क्लेश अपने आप ही मोल लिया समझिये । ऐसा चिन्तन करो कि सांसारिक कार्यों में कर्म बलवान है, उदय बलिष्ट है । जो कुछ बीतती हो बात तो उसमें उस उसके उदय के अनुसार बीतती है । उसका ज्ञाता द्रष्टा रहना अथवा कष्टों के सहन करने की शक्ति बने, यही अपना कर्तव्य है ।

संसरण के अभाव में आत्महित—समस्त संसार-अवस्थावों का अभाव करना इसमें ही हित है । कर्मों से ही सारा संसार है कर्मों से ही इतना बड़ा क्लेश है । इन क्लेशों को दूर करने में ही अपना हित है । संसार-अवस्था का अभाव तब ही सम्भव है, जबकि निर्विकार ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा बने, यहाँ ही रमण करने का भाव बने । इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी है कि बाहरी बातों में जो कुछ बीतती है,

बीतने दो । हम कष्टसहिष्णु बनकर, यथार्थज्ञानी बनकर उन सब उपद्रवों को दूर कर सकते हैं । ऐसा जानकर उन कष्टों के बचाव में, उन कष्टों के दूर करने के साधन की कल्पना में अपना समय न व्यतीत करें और अन्तरंग में ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि रहकर अपने आपमें प्रसन्नता पावें । इस ही विधि से हम संसार के संकटों से छूट सकते हैं ।

शान्ति में वस्तुस्वातन्त्र्य के परिज्ञान की साधकता—शान्ति का उपाय पाने के लिए हमें वस्तु के स्वरूप का यथार्थ भाव होना चाहिए । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है, दूसरे के स्वरूप से नहीं है । हम किसी पदार्थ का कुछ परिणमन नहीं करते, कोई पदार्थ मेरा कुछ भी परिणमन नहीं करता । सबकी आजादी निरखें, यहाँ कोई किसी का मालिक नहीं है, अधिकारी नहीं है । यहाँ सब मिल जुलकर रहे, क्योंकि सभी को सुख चाहिए और यहाँ का सुख है विषयों के साधन में । सो उन विषयसाधनों में रहने के लिए एक दूसरे की परतंत्रता को स्वयं स्वतंत्र होकर अंगीकार किया करते हैं । वस्तुत: कोई जीव किसी भी अणु का मालिक नहीं है, ऐसी यथार्थ बात अपनी श्रद्धा में ले आयें और फिर कोई कष्ट हो सकता हो तो बतावो । निर्धनता को ही जब धनी मान लिया गया तो अब उसे कष्ट काहे का ? कर्मों का उदय अधिक से अधिक इतना ही तो कर सकेगा, खुजला ही होने के लिए निमित्त बन जायेगा कि न रहे वैभव या नष्ट हो जाय वैभव, न रहे जीवन या हो जाये, मरण, ज्ञानी पुरुष उसका भी मुकाबला समतापूर्वक कर लेता है । इसी से उसे दु:ख नहीं होता । कष्टसहिष्णु बनो और धर्मपालन का अन्तरङ्ग में ध्यान रक्खों ।

आन्तरिक उपचार से ही शान्ति में सफलता—गृहस्थावस्था में तो अचानक अनेक संकट आ जाते हैं । किस-किस संकट को मिटावोगे ? एक की रक्षा की तो, दूसरा बीमार हो गया, किसी पर कोई संकट छा गया । यों एक न एक बात सामने हाजिर रहती है और ऐसी बात जो विचारों में भी नहीं आ सकती, सामने घटित हो जाती है । हम कष्टसहिष्णु नहीं बन सकते तो जीवन नैया पार नहीं हो सकती । यदि हम कष्टसहिष्णु है तो जीवन में कष्ट आयेगा ही नहीं । यहाँ तो सभी जीव एक समान हैं । उनमें मात्र पुण्य-पाप के उदय का अन्तर है । जिसने जैसा सुकृत और दुष्कृत किया उसके अनुसार उसे फल मिलता है । इस प्रकरण में मुख्यरूप से यह शिक्षा दी है कि कोई कष्ट आये तो उससे घबड़ावो मत, उसे अनहोनी मत मानो, उसे बहुत बड़ी विपदा मत समझो । यह सब परपदार्थों का परिणमन है । यों हो गया, यों निरखो और उन सब विडम्बनावों से विविक्त अपने को ज्ञानानन्द रूप अनुभव करो । जो कष्ट आया है उसके प्रति यह ध्यान में लावो, इससे भी कई गुणा कष्ट आ सकता है । इस पद्धति से जब विचार करोगे तो जो कष्ट आया है उसको समता से सहन कर सकते हो । अन्य जीवों को भी देख लो, कैसे-कैसे अचानक क्या-क्या कष्ट उमड़ आते हैं? सभी को ऐसे दृष्टान्त मालूम है । कष्ट दुनिया में कुछ नहीं है । अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि न जम पायी और बाह्यपदार्थों के कारण अपना बड़प्पन माना तो इस पद्धति से फिर कष्ट ही कष्ट हैं ।

तपश्चरण की शक्यानुष्ठानता व उपादेयता—देखो तपस्या में कोई कष्ट नहीं है । जो और कष्ट आ रहे हैं इन कष्टों के सामने अपनी इच्छापूर्वक ज्ञानसहित वैराग्य-भाव से कुछ तपश्चरण किया जाय तो वह कौनसा

कष्ट है ? और इष्टसंयोग अनिष्टवियोग ऐसे जो सुख के साधन है, इन्हें आप कब तक बना सकते हैं ? एक ही निर्णय रक्खों, हम कष्टों के सहिष्णु है, जो बात बीतेगी उसका हम मुकाबला कर सकते हैं, हमारा काम केवल धर्मपालन का है, हम अपनी धर्मसाधना में लगें और कुछ उपद्रव आयें तो उनको सहने को हममें हिम्मत रहे, ये सब बातें ज्ञानबल से सुगम साध्य है । तपस्या में प्रीति बनावो, तपस्या से कष्ट मत मानों । कष्ट तो ये विषय-कषाय है, संकल्प विकल्प है । उनके सामने व्रत पालन का, संयम साधन का कौनसा बड़ा कष्ट है? यह तो उत्तरकाल में आत्मलाभ का कारण है, ऐसा जानकर तपस्या में कष्ट मत मानों, कर्मोदय से कोई कष्ट आये तो उसके सहिष्णु बनों और ज्ञानस्वभाव अंतस्तत्त्व की आराधना में अपने आपको लगाये रहो, यही दुःखों से छूटने का एक उपाय है । कष्टों के सहनशील बनों और धर्म में अपनी प्रवृत्ति रक्खों ।

।। इति आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ।।